॥ ओ३म् ॥

अग्निहोत्र व्याख्या ।

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम् ।
देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

हे मनुष्यो! ईर्षा, द्वेष, विरोध छोड़कर सब संसार निवासी एक सार्वभौमिक राज्य में परस्पर मिल कर रहो। इस से सब दुःख नाश होंगे और सुखों की उपलब्धि होकर वृद्धि होती जावेगी। एक ही भाषा (संस्कृत) के बोलने वाले होते हुवे, छलयुक्त दलीलों को त्याग कर सत्य परायण हो, केवल सत्य निश्चय के उद्देश्य से सभायें किया करो। तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो; जिस से तुम ज्ञानी होकर नित्य आनंद में बने रहो और तुम्हें धर्म का सेवन तथा अधर्म का क्षय करना चाहिये। जैसे पक्षपात र-

हित धर्म्मात्मा विद्वान् लोग वेदरीति से सत्यधर्म का आचरण करते हैं, उसी प्रकार से तुम भी करो, क्योंकि यही कल्याण का एक बड़ा साधन है।

सब आर्य्य सज्जनों को ज्ञात है कि मनुष्य के लिये, प्रतिदिन पञ्चयज्ञ करने की आज्ञा ऋषि गण ने दी है, जैसे पूज्यपाद मनु भगवान् लिखते हैं:-

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथा शक्ति न हापयेत्॥

वेदादि सत्य शास्त्रों का पठन पाठन; अग्निहोत्र से अश्वमेध यज्ञ पर्यन्त होम; वृद्धों तथा विद्वानों का तर्पण; गौ, कुत्ता, बिल्ली, कीट आदि को बलि दान; अतिथियों की हार्दिक सेवा; इन पांच प्रकार के यज्ञों पर हमारे पूर्वजों ने जो बल दिया है, वह सब पठित आर्य्यों को ज्ञात है। इस पुस्तक में सब प्रकार के अन्य यज्ञों को छोड़ कर केवल अग्निहोत्र की व्याख्या की गई है, क्योंकि यह इस समय सब से अधिक प्रचलित यज्ञ है और लाभदायक भी माना जाता है,

परंतु लोगों को इस का महत्त्व ज्ञात नहीं। इस कारण कई लोग इस यज्ञ को सर्वथा त्याग बैठे हैं और अन्य मन से इस को नहीं करते। बहुत से सज्जनों की कठिनाई दूर करने और सब के हृदयों में अग्निहोत्र विषयक श्रद्धा जमाने के उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई है। यदि किञ्चिन्मात्र भी उस उद्देश्य की पूर्ति हो जावे, तो यही बहुसुफलता समझी जावेगी।

अग्निहोत्र के लाभ।

इस यज्ञ के लाभ स्वाभाविकतया दो समूहों में विभक्त हो सक्ते हैं।

आध्यात्मिक

(क) अग्नि के गुणों को धारण करना।

(ख) सत्व संशुद्धि

(ग) जातीय उन्नति

(घ) वेद रक्षा

अधिभौतिक

(क) जल वायु शुद्धि

(ख) वनस्पति वृद्धि

(ग) शारीरिक आरोग्यता

(घ) वर्षा वृद्धि

उपरोक्त फलों की व्याख्या क्रमवार की जाती है। उसे ध्यान पूर्वक पढ़ते हुवे अग्निहोत्र की महिमा देखिये।

१–(क) अग्नि के गुणों को धारण करना:—

इस लाभ को हम सर्वोत्कृष्ट समझते हैं, अतः इसे प्रथम रक्खा है। सर्व नर नारी जानते हैं कि अग्नि का स्वभाव अन्य वस्तुओं को भस्म कर देना है और वह वस्तुएं जब प्रकाश में हमें आनंदित करती हैं, उसी समय, मानो कि विना दुःख के, अपना नाश कर रही होती हैं। प्रतिदिन, दोनों काल, जब कि हमारे मन संसार के कार्य्यों से पृथक् होते हैं अर्थात् जब सत्य वृत्तियां प्रबल होकर सत्य ग्रहणार्थ उद्यत होती हैं, ऐसी उत्तम आत्म-त्यागिता के दृश्य देख कर हम उच्च हुवे विना नहीं रह सक्ते।

प्रथम सत्य शिक्षा यह है कि हम ने नाश होना है और इसी अग्नि ने हमारा शरीर भस्मांत करना है। इसी कारण ही अग्नि को वैश्वानर (भस्म करने वाली) यविष्ठ्य (पदार्थों को छिन्न भिन्न करने वाली) नामों से हम याद करते हैं, अतः जीवन के थोड़े से दिनों में जो शुभ कर्म हम से हो सक्ते हैं उन में विलम्ब तथा असावधानी न करें। नीचे लिखे उत्तम श्लोक की शिक्षा प्रतिदिन प्राप्त करते हैं।

अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

मिश्र देश के पुरातन आर्य्य लोग इस बात पर बड़ा ध्यान देते थे। जब कभी वह भोग सभायें किया करते थे, अवश्यमेव मेज़ पर मृतक शरीर धारण करने वाली संदूक की प्रतिमा रखते थे, ताकि मृत्यु को न भूल कर वह व्यर्थ समय न गवांये, और बुरे कर्मों व बुरे शब्दों में लिप्त न हों। वह मिश्री आर्य्य तो सत् शिक्षा की प्राप्ति के लिये मृत्यु को कभी याद

करते थे, परन्तु हम प्रत्येक दिन दो वार यज्ञ करके अग्नि रूपी यमराज को सर्वदा देखते हैं। अहो! क्या उत्तम तरीका हमारे पूर्वजों ने नर नारी को सदाचारी, ब्रह्मचारी, धर्माचारी बनाने का निकाला था। परंतु हम, इस उत्तम शिक्षा को भूलकर रसातल में पड़े हैं, और दुःखित हो रहे हैं। धन्य हैं वह महात्मा! धन्य हैं वह ऋषि महर्षि!! परमर्षिभ्यो नमः!! परमर्षिभ्यो नमः!!

दूसरी सत्य शिक्षा यह है, कि जैसे स्वयं नाश होकर ही वस्तुवें प्रकाश दे सक्तीं हैं, वैसे ही हम किसी प्राणी को सुख, आनंद, या विद्या नहीं दे सक्ते, जब तक कि हम स्वयं लकड़ी व बत्ती की न्याईं न जलें वा बीज के समान न गल जावें। इस प्रकार के सर्वोत्तम आत्मत्याग—नहीं २ सर्वत्याग की शिक्षा जो मनुष्य सर्वदा प्राप्त करता है, वह स्वर्गधाम को शीघ्र ही प्राप्त कर सक्ता है। हम तो पुरातन व आधुनिक जातियों में से किसी के इतिहास में ऐसी उत्तम विधि आत्मत्याग सिखाने की नहीं देखते। भारतीय

आर्य्य आश्चर्य्य किया करते हैं कि जापानादि देशों के निवासी धर्म तथा देश के लिये जीवन कैसे आनंद से त्याग करते होंगे? हमारे पूर्वजों ने भी अपनी संतान को सर्वथा सुशिक्षित करने के लिये कई विधियां निकालीं थीं, परंतु हम ही कुपुत्र होकर उनकी शिक्षा से मुख मोड़े हुए हैं। आवो! हम सावधान हो प्रतिदिन सच्चे हृदय से इस सर्व त्याग के भाव को संचय करके मुक्ति के भागी हों। ऐसा करते हुए

प्रथम स्वार्थ, फिर परमार्थ

का तंग मसला भी भूल जावेंगे और 'यथात्मापर स्तद्वत् गृहीतव्यः शुभमिच्छता' अपनी भलाई की इच्छा करने वाला मनुष्य अन्य पुरुष को ऐसे जाने जैसे वह अपने आपको समझता है। जैसे अग्नि व आदित्य मलीन तथा अमलीन वस्तुओं के छूने से स्वयम् मलीन नहीं हो जाते, परंच सब मलीनता दूर कर देते हैं, वैसे हम आर्य्य, अनार्य्यों के दोषों को दूर करने के इच्छुक होंगे। अहंकार से अन्य से घृणा, या

उस का बायकाट न करेंगे और आदित्य के समान सब पर विद्या धर्म का प्रकाश करते हुए जीवन व्यतीत करेंगे।

तीसरा उत्तम भाव यह है कि प्रकाश सर्वदा सत्य के प्रचार करने वाला होता है, क्योंकि जैसी वस्तु हो उस को वैसा ही देखना व कथन करना सत्य कहलाता है। अतः सत्य के प्रचार का साधन प्रकाश ही है। इस प्रकाश को देखते हुए हम सत्य विचारी, सत्यवादी, सत्यकर्मी होने की उत्कण्ठा करें।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्॥

सत्य का प्रचार भी हमें निर्भयता से करना चाहिये, क्यों कि अग्नि निर्भय होकर वस्तुओं को जलाती है। अपने इस गुण के दिखाने में किसी का पक्ष नहीं लेती। भूमि निवासी प्राणियों में मनुष्य सर्वोत्कृष्ट जीवधारी है, इस कारण उसे निर्भय तथा पक्ष रहित होकर, जगत् में सत्य फैलाना चाहिये।

सारांश यह कि जैसे अग्नि को वेद भगवान्

पवमान तथा शुचि कहते हैं, वैसे हम उसके गुणों को धारण करने के इच्छुक जन तीनों प्रकार की पवित्रता धारण करने वाले हों, हम में अग्नि जैसी निर्भयता, न्याय शीलता, धर्म परायणता, प्रकाश, तेज, ओज तथा बल होवें, ताकि हम आर्य्य आदित्य के समान संसार का चक्रवर्ती राज्य तथा ऐश्वर्य्य प्राप्त कर सकें।

चौथा भाव यद्यपि पूर्व से सम्बंध रखता है, परंतु आवश्यक होने के कारण उसे पृथक् कर देते हैं। सर्वदा अग्नि की ज्वाला ऊपर जाती है, जलती हुई मोमबत्ती को अधोमुख कर दीजिये, परंतु उसकी सात्विकी पवित्र ज्वाला को नीचे करना हमारी शक्ति में नहीं। इसी प्रकार यदि हम उच्च बनना चाहते हों, तो हम सात्विक स्वभाव के बनें। फिर न ही केवल अग्नि के समान हमारा तेज होगा परंच क्रमशः ऊपर उठते आवेंगे जैसा कि श्री कृष्ण भगवान् ने उत्तमता से कहा है :—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥
यदा सत्वे प्रवृत्ते तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥

इस के अतिरिक्त अग्नि को बहुत से मंत्रों में पथिकृत कहा गया है, क्योंकि वह हमारी त्याग की हुई आहुतियों को भौतिक देवताओं वायु, जल, इंद्र, विद्युत्, तक पहुंचाता है। जैसे अग्नि सामग्री को छिन्न भिन्न कर वायु में मिला देता है, वैसे ही हम सब के साथ मिलकर रहें, बांट कर भोजन करें और ईर्षा, द्वेष, लोभ, मोह, अहंकार को छोड़दें। यदि अग्नि स्वार्थ सिद्धि से अन्य देवताओं को हवि न दे; तो वही उपनिषदों में लिखी प्राण तथा अन्य इंद्रियों की लड़ाई वाला मामला हो, अतः अग्नि का यह गुण वेद भगवान् की तीन उत्तम ऋचायें भी याद दिलाती हैं; जिन के अनुसार हमें अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये।

ओं सहनाववतु, सह नौ भुनक्तु, सहवीर्य्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै ॥
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ॥
समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

१ (ख) सत्व संशुद्धिः –

अग्नि के कर्मो को देख कर जिस प्रकार सत्व संशुद्धि हो सक्ती है उसका वर्णन पूर्व किया जा चुका है। यहां वेद मंत्रों द्वारा जो मन की मलीनता दूर होती है, उस का संक्षेपतया कथन करना है। होम-विरोधी मनुष्य प्रश्न किया करते हैं कि मंत्रों के पढ़ने की क्या आवश्यकता है, जब वायुशुद्धि के लिये अग्नि-होत्र किया जाता है? अग्निहोत्र के लाभों की गणना से पता लग गया होगा कि उसका वायु जलादि का पवित्र करना ही उद्देश्य नहीं, परंच अन्य बहुत उद्देश्य हैं। विधि पूर्वक यज्ञ करने से अधिकतम लाभ होता है, ऐसा यज्ञ करते हुए जब हम वेद मंत्र पढ़ें,

तो प्रथम "एक पंथ दो काज" के मसले से हम को लाभ होता है ।

दूसरा जैसा आगे मन्त्रों के अर्थों से पता लगेगा, उन में सार गर्भित प्रार्थना, उपासना तथा ईशस्तुति भरी हुई है और यह कर्म हम अपने आप को सुधारने के लिये करते हैं । प्रार्थना आदि से जो लाभ होते हैं, अग्निहोत्र करते हुए हम उन के भागी बन सकते हैं । तीसरा–सर्व पाठक जानते हैं कि जब हम संध्या के लिये, आंखें मीचते हैं उसी समय सहस्त्र प्रकार के दृश्य हमारे आन्तरीय चक्षु के सामने नाचने लगते हैं। हम सर्वथा उन से मन हटाने का यत्न करते हैं, परन्तु बहुत काल तक कामयाबी नहीं होती । क्या हम में से बहुपक्ष ऐसे पुरुषों का नहीं, जिन्हों ने संध्या करनी इस नाकामयाबी के कारण मायूस होकर त्यागदी हो ? महाशयो ! साधारण मनुष्य में अपने मन की चंचलता को रोकने की शक्ति नहीं पायी जाती, अतः संध्या उस को सुफल नहीं हो सकती । वेद मंत्रों को

बल से उच्चारण करते हुए उसका मन थोड़ा बहुत अवश्य लग जाता है और अग्निहोत्र में इस विधि से और भी अधिक मन लगता है। अतः यदि विचार पूर्वक धीरे २ मंत्र उच्चारण किये जावें, तो प्रार्थना, उपासना, और स्तुति से जो मन की शुद्धि होती है, वह यहां पर भी उपलब्ध हो सकती है।

चौथा वेद मंत्रों को विचार तथा प्रेम से पढ़ते हुए उन के एक २ शब्द का महत्व प्रतीत होता है, क्योंकि कणाद मुनि तथा अन्य ऋषियों के वचनानुसार।

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे।

वेद में वाक्य की कृति नाम रचना बुद्धि पूर्वक होती है। शब्दों के सुन्दर क्रम तथा उत्तम भावों को जान प्रेम बढ़ता जावेगा और वेद स्वाध्याय की ओर मन आकर्षित होगा। अतः जो ब्रह्मयज्ञ है उस की भी पूर्ति होम द्वारा हो सकता है। इस समय की पतित आर्य्यसंतान वेद स्वाध्याय की ओर ध्यान नहीं देती

और जिन जातियां को यह पतित, पापिष्ठ और ग़लतियों की शिकार मानती है, वह बराबर प्रतिदिन बालक, स्त्री, पुरुष प्रातः काल क़ुरान पढ़ते हैं। कौनसा हिन्दूबालक गीता जैसी सरल पुस्तक पढ़ता है? सज्जन पाठक! अग्निहोत्र करते हुए वेद की प्रतिष्ठा अपने हृदय में बिठाओ और महर्षि दयनान्द की वेद-भाष्य का प्रतिदिन कुछ काल के लिये, अनुशीलन करो।

१. (ग) जातीय उन्नति।

प्रत्येक बालक भी जानता है कि तालाब में कंकर फैंका जावे, तो छोटी २ लहरें उत्पन्न होंगी; परन्तु यदि भारी पत्थर बड़े बल से फैंका जावे, तो सारे तालाब में, एक सिरे से दूसरे सिरे तक, लहरें फैल जाती हैं। इसी प्रकार जो शब्द हम मुख से निकालते हैं, वह पत्थरों व कंकरों के समान छोटी बड़ी लहरें वायुमंडल में उत्पन्न करते हैं और वह लहरें बहुत दूर २ तक पहुंचती हैं। वस्तुतः हमारे पास अभी तक उस बात को मालूम करने के

साधन नहीं हैं, परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि शब्द सारे वायुमंडल में फैल जाते हैं और अपनी सत्ता का चिन्ह वहां छोड़ जाते हैं। हमारा विश्वास है कि यदि कोई योगीराज इन लहरों को देख कर उस के नियमों को जानता हुआ चाहे, तो वह निःसंदेह उन शब्दों को कह सकेगा, जिन से यह लहरें उत्पन्न हुई थीं। यह विचार निराला प्रतीत होता है, परंतु तीन चार मोटे दृष्टांतों से, इस की सत्यता प्रतीत हो जावेगी।

स्टेशन पर बैठा हुआ तार बाबू छोटा सा टिक टिक का शब्द करता है और वह भारतवर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक सुनाई देता है। यह तो तार द्वारा हुआ, परंतु विना सम्बंध की तार में भी यही नियम है। वह छोटा सा टिक टिक का शब्द इस वायुमण्डल में घूम रहा है, जिस की जहां इच्छा हो वहां पकड़ ले। अमेरिका से इङ्गलैंड में, इङ्गलैंड से भारतवर्ष में, कलकत्ते से शिमले में भी सुनाई देगा।

इस से सिद्ध होता है कि यह छोटा सा शब्द निरर्थक नहीं जाता, मुख से निकला शब्द अपनी सत्ता नहीं खो बैठता, परंतु सारे वायुमण्डल का जो इस ओर तथा पाताल में रहता है अर्थात् २५००० मील का खूब वेग से वह चक्कर लगाता है। जब यह छोटा सा टिक का शब्द इतना बलवान् हो, तो क्या अग्निहोत्र में ज़ोर से बोला शब्द इस से २० गुणा दूरी पर नहीं जावेगा? और जब क्रोड़ों मनुष्य मिल कर एक साथ एक समय हवन करें, तो कितना दूर और गहरा यह शब्द जावेगा, उसे विचार में तो लाइये?

महाशय! जहां शब्दों के सुनने का प्रबंध हो, वहीं शब्द सुने जा सक्ते हैं। कोई आश्चर्य्य नहीं कि एक योगी एकांत में बैठा हुआ इच्छानुसार अपने हृदय में गान सुन सक्ता हो। सजातियों के मन एक हों, जैसे पिता पुत्र, पति पत्नी, भाई बहन के तो हृदयों पर असर हो सक्ता है। कौन ऐसा मनुष्य होगा, जिस ने अपने जीवन में कभी न कभी अपने प्यारे

के दुखी व मृत होने को सूचना पत्र आने से पूर्व ही अपने हृदय में प्राप्त न करली हो ? समय आता है जब स्वयं शरीर कांपने लगता है, मुख मुर्झा जाता है, मन उदासीन हो जाता है और इन सब बातों का कारण प्रतीत नहीं होता, परंतु दिन दो दिन के पश्चात् पता लगता है कि अमुक प्यारा संसार से चल बसा। ऐसी बातों को विज्ञान (साइन्स) द्वारा हम स्पष्ट न कर सकें, परंतु एक बात स्पष्ट है, कि हृदयों का परस्पर सम्बंध है और हमें विश्वास है कि यह सम्बंध वायुमण्डल द्वारा ही है। दुखी की आह और सम्बंधी को याद करने के शब्द निकले हुवे दूरस्थ सम्बंधी के हृदय में प्राण द्वारा जाते हैं, और एक मन होने से उस पर असर डालते हैं, जैसे विना सम्बंध की तार में, विशेष प्रबंध से टिक का शब्द पकड़ा जाता है। वेद भगवान् की जो आज्ञा थी:—

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम् ।

इस प्रार्थना के एक साथ क्रोड़ों मुखों से निकलने का महत्व और आवश्यकता अब पाठकों को पूर्णतया ज्ञात हो सके हैं। यदि स जातियां से महानुभूति रखने वाले समान मन वाले हों, तो एक ही समय अग्निहोत्र करते हुवे, जो प्रार्थनायें की जावेंगी, वह वायुमण्डल द्वारा क्रोड़ों के मनों पर असर डालेंगी, जितना अधिक प्रेम और सत्यता उन शब्दों में मिली होगी-उतना अधिक असर दूसरों के हृदयों पर होगा। जब सारे देश निवासी देश उन्नति के लिये एक साथ इच्छुक होंगे, तो क्यों न शीघ्र उसे प्रार्थना द्वारा प्राप्त कर सकेंगे ?

शब्द के असर पूर्णतया समझने चाहियें। नाटकों में कैसा बुरा भला प्रभाव इन शब्दों से आचार पर पड़ता है, एवम् गान का प्रभाव सब मनुष्य जानते हैं और अच्छे वक्ताओं ने इस संसार में जो जो अक्रांतियें उत्पन्न की हैं, उन का इतिहास साक्षी है। अतः क्या अग्निहोत्र में सच्चे दिल और मधुर-वाणी से निकले हुवे क्रोड़ों के शब्द प्रभाव से रहित

होंगे ? नहीं, सर्वथा नहीं ! स्पष्ट देखते हैं कि अन्य जातियां एक समय तथा मिल कर संध्या करके उन्नति कर गई हैं और कर रही हैं, परन्तु उत्तम शिक्षाओं के देने वाले ऋषियों की सन्तान सब से अधिक गिर गई है। हा शोक ! सारे संसार को सिखा कर स्वयम् बुद्धू बन बैठी है। सज्जनो उठो ! शब्द का महत्व समझो, एक समय सब मिलकर प्रार्थना करो, वह सुफल होगी। सारे जगत् को अपने धर्म्म-पथ पर लावो और अपने पूर्वजों के योग्यपुत्र बनो।

१ (घ) वेदरक्षा।

पाठकों ने समझ लिया होगा कि उपरोक्त लाभ तभी हो सक्ता है, जब सब हवन करने वाले एक समय पर एक विधि से यज्ञ करें और समान मन्त्र बोलें। इस कारण ही एक से संध्या मंत्र रक्खे गये हैं। कुछ महाशय विचार किया करते हैं कि जिस भाषा, जिस समय तथा जिन शब्दों मे इच्छा हुई, प्रार्थना उपासना

कर लों, परंतु ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उस से इन सब विचारों का निषेध होता है । यदि हम अपनी तथा जातीय उन्नति चाहते हों, तो एक समय एक ही भाषा में प्रार्थना करें । वेद हमारी ईश्वरीय पुस्तकें हैं, उन का पाठ करना परम धर्म्म है । अग्निहोत्र में वेद मंत्रों का पाठ होता है, बाकी मंत्रों के लिये उत्साह बढ़ता है और कई नियत आहुतियों के अतिरिक्त अन्य मंत्रों से हवि डाल कर मंत्र याद रक्खे जा सक्ते हैं । ब्राह्मणों ने यज्ञों में मंत्रों को उच्चारण करने के उद्देश्य से ही वेद याद कर लिये और इस विधि से मनुष्यजाति के शत्रु पुस्तकालयों को भस्म करने वाले मुसलमान विजेताओं से उन की रक्षा की। यदि यज्ञों का तरीक़ा न होता तो संदेह है, कि अब तक मनुष्यों को वेद प्राप्त हो सक्ते?

आधिभौतिक लाभ

(क) जल वायु शुद्धि ।

'नीम हकीम खतरा जान' यह कहावत प्रसिद्ध है, परंतु थोड़ीसी पदार्थविद्या पढ़ कर सारी प्रकृति के विषय में ज्ञान रखने के दावे मूर्ख जन बांधते हैं। मादे और शक्ति के अविनाशी होने के नियम को जान कर वह समझते हैं, कि इस संसार में ईश्वर की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार रसायण किञ्चन्मात्र पढ़ कर विद्यार्थी का यह ख़याल जम जाता है, कि जो सिद्धांत उसने पढ़े हैं, वह सर्वदा के लिये ठीक हैं और उन सिद्धांतों के विरुद्ध कहने वाले अज्ञानी हैं; परंतु वह भूल जाता है कि आज के सिद्धांत कल असत्य हो सक्ते हैं और यह कि विख्यात साइंसवेत्ता इस बात को स्वीकार करते हैं कि जहां तक हमारा ज्ञान है, उस के अनुसार अमुक घटना अशुद्ध है, परंतु सम्भव हो सक्ता है कि ठीक हो।

वैसे ही अग्निहोत्र के विषय में सब लोग आर्य्यों पर टूट २ पड़ते थे कि वह अपना समय तथा धन ही होम करके व्यर्थ नहीं खोते, परन्तु कार्बन डायाआक्साइड (CO_2.)उत्पन्न कर अपने तथा जातीय स्वास्थ्य को बिगाड़ते हैं। परंतु उन को अपने ऋषियों की अपूर्व बुद्धि पर विश्वास था और यद्यपि उस समय की साइंस उन का साथ नहीं करती थी, वह अग्निहोत्रसे नहीं टले। आज बड़े हर्ष की बात है कि पश्चिमी विद्वानों ने अग्निहोत्र के विषय पर प्रकाश डाला है और हम निर्भयता से इस तर्क प्रधान, साइंस परायण और विश्वास विदारक समय का मुकाबिला कर सक्ते हैं और वर्त्तमान लोगों को अपने ऋषियों की बजुर्गी का एक नया नमूना दे सक्ते हैं।

साइंस द्वारा होम के लाभ देखने से पूर्व उन वस्तुओं के नाम जानने चाहियें, जो हवि के तौर पर अग्नि में डालनी चाहियें।

(क) निम्न प्रकार की लकड़ी जलाने की आज्ञा है:—
पलाश, शमी, पीपल, आम्र, बड़, गूलर, शिल्व, आदि ।

(ख) होम के सुगंधित द्रव्य :—कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेत चंदन, इलायची, जायफल, जावित्री, काफ़ूर, धूप ।

(ग) पुष्टिदायक पदार्थः—घी, दूध, फल, कंद, अन्न, चावल, गेहूं, उड़द आदि ।

(घ) मिष्ट पदार्थः शक्कर, शहत, छुहारे, दाख, पिस्ता, गरी, बादाम, आदि ।

(ङ) रोगनाशक पदार्थः गिलो, नीम, नेत्रबेल, बालछड़ आदि औषधियां ।

जल वायु शुद्धि जिस प्रकार अग्निहोत्र से हो सक्ती है, उस का वर्णन अब किया जाता है ।

पदार्थविद्या से सिद्ध हुआ है कि जो कृमि हमारे शरीर को रोगग्रस्त करने की शक्ति रखते हैं, उन्हें धूवां नाश कर देता है । प्रसिद्ध फ्रांसीसी

रसायनवेत्ता ने इस बात को देख कर कि सब जातियों में रोगों को दूर करने का मोटा तरीका लकड़ी जलाना है, उस में साइंस द्वारा सत्य देखने का निश्चय किया और महाशय त्रिले ने मालूम किया कि लकड़ी जलाने से फ़ार्मिक आलडीहाइड नामी एक गैस निकलती है, जिस का गुण सर्व प्रकार के (जर्मज़) कृमियों को मार डालना है। यह वस्तु रसायन में बहुत प्रसिद्ध है, जल के सौ परिमाणों में ४० परिमाण इस वायु के मिलाकर फ़ार्मेलिन नामी औषधि बाज़ार में शीशियां भरी हुई बेची जाती हैं और क्योंकि यह कृमिनाशक, रोगनाशक, विकारबाधक है, इस कारण उस का बहुत प्रयोग होता है; जैसे फ़िनाइल बर्ता जाता है, वैसे ही मकान शुद्ध करने के लिये, इस का प्रयोग किया जाता है।

हवन करने में जो लकड़ी जलाई जाती है, उस से जल वायु शुद्ध हो सक्ते हैं, परन्तु लकड़ी थोड़ी होने से पर्याप्त उद्देश्य सिद्धि न हो सके, उस को पूर्ण करने के

लिये, जो अन्य पदार्थ डाले जाते है उन का असर देखना चाहिये।

मिष्ट पदार्थों का असर म० त्रिले ने मालूम किया है कि खाण्ड जलाने से फ़ार्मिक आलडीहाइड निकलती है। रसायन में खाण्ड तीन प्रकार की कहते हैं:- गन्ने की खाण्ड, फलों की खाण्ड और ग्लूकोज नामी अंगूरी खाण्ड। मिष्ट पदार्थों की सूचि देखने से पता लग जावेगा कि यह तीन खाण्ड हम हवन में जलाते हैं अब उन से काफ़ी जर्मज़, कृमियों को मारने वाली वायु निकलेगी। साथ ही कार्बन डाया आक्साइड भी पैदा होगी उस का लाभ आगे चल कर बताते है। घी दूध आदि पुष्टिदायक पदार्थों में जो खाण्ड होती है और उन के जलने से भी वह कृमिनाशक वायु उत्पन्न होगी। अभिप्राय यह है कि कई प्रकार से हवन करते समय हम जीवनाशक वायु पैदा करते हैं और क्योंकि आज कल सब रोगों का आरम्भ तथा वृद्धि इन कृमियों से होती है, इस कारण होम का जल वायुशुद्धि में बड़ा भारी असर है।

प्रश्नः—फार्मेलिन बाज़ार से लेकर आवश्यकता अनुसार घरों में छिड़क दी, होम में बहुत धन गंवाने की क्या जरूरत है ?

उत्तरः फ़िनाइल की न्याई वह बदबूदार होती है, इस कारण जो कृमिनाशक वायु हवन की सुगंधियों से निकलती है इस का मुकाबिला नहीं कर सक्ती। अतः यदि हवन पर अधिक धन व्यय हो, तो भी परवाह नहीं करनी चाहिये। दूसरा, फार्मेलिन साधारण-ताप पर इतना लाभ नहीं पहुंचा सक्ती, जितना विरल रूप में होम से निकली हुई नम्र कृमिनाशक वायु कर सक्ती है। अतः फार्मेलिन कुछ मुकाबिला नहीं कर सक्ती। होम ही जल वायु शुद्धि में एक अमूल्य विधि है।

प्रश्न.—क्या हमारे पूर्वज भी हवन को रोग-नाशक मानते थे ?

उत्तरः—सारे पुरातन आर्य्य ग्रंथ अग्निहोत्र को रोगनाशक कृमियों को मारनेवाला कहते हैं। स्थान

के अभाव से महाभारत तथा शतपथ से ही प्रमाण देते हैं। शतपथ ब्राह्मण (१, १, ४, १४ १८) में लिखा है कि किलात और आकुली, अतिसार और विशेष सूजन के रोग आर्यों को दुःख देते रहते थे, इन के नाश करने के लिये ऋषभ नामी औषधि से कामयाबी न हुई। आर्यों को इस कारण क्लेश था। बहुत अन्वेषण के पश्चात् उन रोगों को यज्ञ से नाश करने की विधि सूझी और वह कामयाब हुए। यहां पर दो रोग असुर कहे गये हैं और एक स्थान पर लिखा है कि असुर तथा राक्षस यज्ञ से भयभीत होते थे, क्योंकि वह उन कृमियों के मारने वाला होता था।

"असुर रक्षस्मानि ररक्षुर्न यक्ष्यध्व इति तद्यद्-रक्षस्तस्माद्रक्षाँसि"

अलंकार से कहा है कि असुर राक्षस (कृमियों) ने क्योंकि यह कह कर यज्ञ बन्द करना चाहा कि यज्ञ न करो, इस कारण उन को राक्षस कहते हैं। यह पौराणिक राक्षस नहीं, क्योंकि चावलों के छिलकों को असुर राक्षस, मृ-

गचर्म्म, उखली मुसल, चक्की के पत्थर, यज्ञ के पात्र आदि में राक्षसों का अधिक वास बताया है और सब से बढ़कर उन राक्षसों को भूमि निवासी भयानक रूप मानुषीय आकार वाला नहीं कहा, परन्तु यह कि:—

रक्षश्चरत्यमूलमुभयत: परिच्छिन्नम ॥

वायु मण्डल में राक्षस सब ओर अमूल बिना ठिकाने और बिना बध कैद के सर्वत्र रहते हैं। उपरोक्त कारणों से यही विचार होता है कि असुर और राक्षसों को मारने के लिये, देव विद्वान लोग यज्ञ किया करते थे। इसी बात की पुष्टि महाभारत से मिलती है।

हव्यं कव्यञ्च विविधं निष्पूर्त्तं हुतमेव च ।
अदशं मशकादेशा नष्टव्याल सरीसृपाः

द्रोण पर्व ५९,१६,

भिन्न प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिये हवि डाली जाती है। देश को भिड़, मच्छर आदि से रहित किया जावे और खूखार पशुओं तथा रींगने वाले, सांप बिच्छू आदि को यज्ञ के धूवें से नाश किया जावे।

२ (ख) वनस्पति वृद्धि ।

बहुत से लोगों ने कार्बन डाया आक्साइड को दम घुंटने वाली वायु माना हुआ है, वह भूल जाते हैं, कि सोडा लैमुनेट में इसी वायु को जल में घुला हुआ पीते हैं, जिस से प्यास बुझती और भोजन पचता है। इस में संदेह नहीं कि यह वायु सीधी पेट में जाती है, हमारे फेफड़ों पर प्रभाव नहीं डालती। हवन से निकली हुई कार्बन डा० वायु प्राण द्वारा फेफड़ों पर असर कर सकी है, परंतु उस का बुरा असर दो कारणों से नहीं पड़ता । जलती हुई अग्नि से जब यह वायु निकलता है, यद्यपि भारी होने से नीचे बैठना चाहता है, परंतु गरम होने के कारण अति विरल होने से कुछ ऊपर चढ़ जावेगा। जो वायु हम श्वास में लेते हैं उस में उस की मात्रा अधिक होकर हानी नहीं पहुंचाती । दूसरा, जो कार्बन डा० भूमि के पास कुण्ड के आस पास रह जावे, उसे जल चूस लेता हो, यह सम्भव है ।

होम से निकली हुई कार्बन डाया आक्साइड के विशेष लाभ अन्नादि का अधिक उत्पन्न करना है-साइंस द्वारा यह बात ऐसे सिद्ध होती है।

पदार्थविद्या से पता लगता है कि कतिपय पदार्थों में से प्रकाश गुज़र सक्ता है, परंतु घर्म नहीं गुज़र सक्ता। बहुत से बाग़ीचों में घर्मघरों Hot Houses को पाठकों ने देखा होगा, उन में ऐसे पौदे लगाये जाते हैं जिन्हें अधिक गर्मी चाहिये। अब शीशा सूर्य्य की किरणें अपने में से गुज़रने देता है, परंतु अन्दर के घर्म को बाहिर घर से नहीं गुज़रने देता इस कारण शीशमहलों में गर्मी अधिक रहती है। मालूम किया गया है कि कार्बनडा० भी शीशे जैसा पदार्थ इस विषय में है। उस में सूर्य्य की रश्मियां गुज़र आती हैं परंतु भूमि से टकरा कर बाहिर नहीं जा सक्तीं, वायुमण्डल के १००० परिमाण में ३ परिमाण कार्बन डा० है इस का फैलाव भूमि पर एक प्रकार का पर्दा बना देता है क्यों कि यह साधारण वायु से डेढ़ गुना भारी है,

भूमि तथा इस पर्दे के मध्य घर्म क़ैद रहता है- ज्यूं २ वह पर्दा अधिक मोटा होगा त्यों २ थोड़ा घर्म निकल कर वायुमण्डल में बिखर जावेगा। आक्सीजन तथा नाइट्रोजन में उपरोक्त प्रकार से घर्म को रोकने की शक्ति नहीं, इस कारण यदि कार्बन डाया आक्साइड वायुमण्डल में थोड़ी हो जावे, तो घर्म निकल कर इतनी सर्दी पड़ने लगेगी कि यह भूमि किसी जीव को धारण नहीं कर सकेगी। भूगर्भविद्या की एक प्रसिद्ध पुस्तक में लिखा है कि घर्म ज़ब्त करने का गुण धारण करने के कारण कार्बन डाया आक्साइड वायु पर बड़ा प्रभाव डालती है। उसकी मात्रा में किञ्चिन्मात्र भी भेद आने से बड़े२ परिवर्तन हो जावेंगे। यदि आधुनिक मात्रा को केवल दुगना कर दिया जावे अर्थात् १००० परिमाण में ३ के स्थान पर ६ परिमाण कार्बन वायु के कर दिये जावें, तो भूमि की सब बर्फ़ पिघल कर ध्रुवों में मोतदिल आबोहवा हो जावे और यदि मात्रा

आधी करदी जावे, तो सारी भूमि पर फिर से हिम ही हिम छा जावे।

इसी प्रकार प्रसिद्ध रसायन शास्त्रकर्त्ता मेण्डालीफ़ लिखता है: "वायु में कार्बन डा० की मात्रा पर भूमि का ताप आधार रखता है। भिन्न २ कालों में ताप की भिन्नता का प्रधान कारण कार्बनवायु की मात्रा की भिन्नता थी"।

पाठकों को अब पता लग गया होगा, कि यदि कहीं बनावटी तौर से कार्बन गैस उत्पन्न कर वायुमण्डल मे छोड़ी जावे, तो वहां की गर्मी बढ़ जावेगी। परन्तु यह सिद्धान्त है कि जहां अधिक गर्मी होगी यदि वहां जल हो, तो वनस्पति की अत्यंत बहुतायत होगी। हवन से कार्बन गैस पैदा कर हम घर्म्म बढ़ाते हैं और उस से फल, अन्नादि पदार्थों की उत्पत्ति अधिक करते हैं।

कार्बनगैस के कारण वनस्पति की अधिकता के उदाहरण:—

जहां २ कार्बन डायी आक्साइड अधिक स्वाभाविक तौर पर निकलती है, वहां २ वनस्पति अधिक देखी गई है। ज्वालामुखी पर्वतों से यह वायु निकलती है, उन के आस पास वृक्ष तथा वनस्पति बहुत होते हैं। फ्रांस में एक स्थान एन्वर्गीन है जहां कार्बन गैस निकालने वाला एक चश्मा है, वहां देखा गया है कि अत्यंत वृक्षादि पाए जाते हैं। इसी प्रकार भूमि के इस रूप में आने से पूर्व जो कार्बन काल था, जिस में कार्बन गैस अधिक थी, उस समय जैसी वनस्पति थी अब तक फिर कभी नहीं हुई। उपरोक्त उदाहरणों से सिद्ध हुआ कि कार्बन गैस से वनस्पति अन्नादि बढ़ते हैं। सारांश पूर्णतया विचार लेना चाहिये कि पदार्थविद्या द्वारा हमारे ऋषियों के कथन पूरे हो रहे हैं। वह हवन का एक उद्देश्य अन्नों का बढ़ाना समझते थे और वही हम ने साइंस द्वारा सच्चा देखा है, परंतु शोक है कि जब तक हमें अपने पश्चिमी गुरु प्रकाश न दिखावें, हम स्वयम् अपने

ऋषियों के वाक्यों को सच्चा ठहराने का कोई यत्न नहीं करते।

प्रश्न :—हवन से निकली हुई कार्बनगैस जब कि वायु मण्डल में फैल जावेगी, हमारे नगर व देश को क्या लाभ हुआ? अन्य नगरों के लिए, हम अपना धन क्यों गवावें?

उत्तर :—यद्यपि ऐसा विचार करना तुम्हारी तङ्गदिली को प्रकट करता है, परन्तु हमारे ही नगर व देश को लाभ अधिक पहुंचेगा, इस में सन्देह नहीं। साधारण वायु से कार्बन गैस डेढ़ गुणा भारी है और यह साधारण ज्ञान की बात है, कि भारी वस्तु ऊपर नहीं जाती, अतः, यह कार्बन गैस वायुमण्डल के ऊपर जाने से रुकती है, [illegible] होकर, वृक्षों के बीच में कुछ ऊपर [illegible], इस कारण हमारे श्वास को नहीं बिगाड़ती और वायुमण्डल में न बिखरने से तथा आस पास के वृक्षों में जज़ब होकर, अपना लाभ पहुंचाती है। अतः यदि लाहौर नगर के निवासी बृहद् हवन करें, तो उन के नगर के ऊपर बहुत काल

तक यह पड़ा रहेगा, जब तक कि विशेष आंधी आकर उस वायु को उड़ा न जावे। अतः हवन किया हुआ तुम्हारे लिये ही सुफल होता है।

२. (ग) शारीरिक आरोग्यता बढ़ती है।

अग्नि जलने तथा कार्बन गैस के निकलने से गर्मी बढ़ जाती है, इस कारण हमारे घरों की गंदी वायु गर्म होने से हल्की होकर बाहिर निकलेगी और उस के स्थान पर शुद्ध वायु आवेगी। यह उद्देश्य तो केवल लकड़ी जलाने से भी पूर्ण हो सकता है---घरों की सफाई करने के लिये प्रायः डाक्टर कमरों में अग्नि जलवाया करते हैं, ताकि जो जर्मज़ साधारण ताप से जीवित रह सक्ते हैं, वह ताप के बढ़ने पर मर जावें, परन्तु हम हवन में लकड़ी जलाने और गर्मी पैदा करने के अतिरिक्त सुगंधित पदार्थ डालते हैं। वह हवन की आग से जलते नहीं बल्कि उन के अत्यन्त छोटे २ भाग परमाणुरूप में भिन्न २ हो जाते हैं। वायु द्वारा हमारे घर के साथ

नासिका में से गुज़रते हुवे अंदर पहुंचते हैं। यदि यह सुगंधित पदार्थ सर्वथा जल कर भिन्न २ गैस बन जाते तो दूर २ होम की सुगंधी न आती जैसा कि अब प्रतिदिन हम देखते हैं। केवल इसी तज़रुबे से ही हमें मानना पड़ता है कि सुगंधित पदार्थों को अग्नि सूक्ष्मरूप में कर देती है। यदि यह सिद्धांत ठीक है, तो उन पदार्थों के परमाणु शरीर में जाकर अवश्य रोगों को दूर करने वाले तथा रक्त के साफ़ करने वाले होते हैं। जो औषधि हम खाते व पीते हैं वह प्रथम रस में परिवर्तित होती है, फिर एक लम्बे तरीके से रक्त के साथ मिल कर वहां की मलीनता को दूर करने का साधन होती है। शरीर को रोगी करने का प्रधान कारण रक्त की खराबियाँ हैं, इस सिद्धांत को मानने वाले हमारे पूर्वज थे और इस कारण वह उस रक्त को ही साफ़ करना चाहते थे। वह खूब समझते थे तो कि हम बीसवीं शताब्दी के मग़रूर पुरुष भूल जाते हैं कि:

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ।

रोग फूट आने पर जो अकथनीय कष्ट रोगी और उस के सम्बंधियों को होता है वह किसी पाठक से छिपा नहीं, औषधि पीकर रक्त में मिलने का जो दीर्घ तरीका है उसे भी बहुत जानते हैं इन कारणों से हमारे अपार महिमा वाले ऋषियों ने एक बड़ी सुगम विधि निकाली थी जिस में औषधि श्वास द्वारा विना दुःख परञ्च अत्यंत सुख से शीघ्र रक्त के साथ मिल जावे और प्रातः सायं जो कुछ शरीर की विष रक्त में मिली हो उस को सुगंधित वस्तुओं के परमाणुओं से सर्वथा नाश कर दे। रक्त को जिस तेज़ी से यह परमाणु शुद्ध करते होंगे, उस का अंदाज़ा एक घटना से लग सक्ता है। जब जब कोई रोगी औषधि न पीवे व उस का रोग चिरकाल तक रहने वाला हो गया हो, तो डाक्टर नश्तर द्वारा रक्त में औषधि का तत्त्व भर देते हैं इस तरीके से शीघ्र असर होकर स्वास्थ्य बढ़ने लगता है।

पाठक गण हमें अपने पूर्वजों पर विश्वास कम है, नहीं तो उन की एक२ बात का अन्वेषण करते हुवे, हम बहुत कुछ सीख सक्ते हैं। स्वयम् ही विचारिये कि क्या उत्तम विधि ऋषियों ने रोगों के नाश करने की निकाली थी न नश्तर लगे, न रक्त बहे, न कड़वी औषधियां पीनी पड़ें और न रोगी को बिस्तरे पर करवटें लेनी पड़ें॥

अतः प्रतिदिन अग्निहोत्र किया करो और सामाहिक बृहद् हवन भी, इन से आप का तथा जाति का भला होगा, शरीरवृद्धि होगी, अन्नादि बढ़ेंगे, धन स्वयं अधिक होगा और शांति का राज्य संसार में फैलेगा।

२. (घ) अग्निहोत्र द्वारा वर्षा करनी

"अन्नाद् जायन्ते मनुष्याः यज्ञात् पर्जन्याः"

अन्न से मनुष्य उत्पन्न होते हैं और यज्ञ से बादल। अब हम यह कहते हैं कि मनुष्य अपनी

शक्ति में वर्षा ला सक्ता है इस में बहुत से मत-मतान्तर वाले कुछ होंगे। वर्षा विभागवाले वैज्ञानिक भी श्रम पूर्वक सिद्धान्तित कि यह व्यर्थ दावा है-प्राकृतिक नियमों को मनुष्य नहीं तोड़ सक्ता, जब उन के अनुसार वर्षा होनी होती है, हो जाती है। किरानी, कुरानियों के बहुत से मोजज़ (चमत्कार) असत्य हो जाते हैं, यदि साधारण मनुष्य की शक्ति में भी वर्षा का लाना हो. परन्तु वह दोष लगावेंगे कि परमेश्वर इच्छानुसार वर्षा करता है। ईश्वरीय कार्य्य में तुच्छ मनुष्य क्या दख़ल दे सक्ता है

निःसंदेह नर नारी को अपनी शक्तियों में विश्वास नहीं। विश्वास हो, तो वह बहुत उन्नति कर सक्ते हैं। १९ वीं शताब्दी के स्त्री पुरुषों ने क्या कभी स्वप्न में यह ख़याल किया था कि २० वीं सदी में सहस्त्रों मील की दूरी पर बिना सम्बंध के संदेसा पहुंच जावेगा? कि मनुष्य वायुमण्डल में पक्षियों की न्याईं उड़ा करेगा और १०० मील प्रति घंटा चलने वाली रेलगाड़ी पर

सवारी किया करेगा ? और ऋतुज्वर, प्लेग, चेचक आदि रोगों को वह दावे से अपने घरों में नहीं आने देगा ? यथेच्छा नहीं नदी समुद्र विद्युत्यानों द्वारा पार करेगा, परन्तु यथेच्छा समुद्र पयोनिधि को सुखा कर भूमि बना लेगा ? और पर्वतों के गर्भों में सुरंगें बना उनको सुगमता से रेल में बैठे पार हो जाया करेगा ? एवम् अन्य सहस्र प्रकार के सुखों को निर्भयता से भोगेगा ?

हमारा दावा है कि इस प्रकार की सहस्रों बातों का उस को ज्ञान नहीं था और उन घटनाओं को उस समय के लोग असम्भव समझते थे, बल्कि यदि कोई उन के प्रिय विचारों के विरुद्ध कहे, तो जान से मारने को तय्यार थे, जैसा कि गेलिलो और कार्पनीकस को मारा गया। इसी कारण साइंस और धर्म में भेद चला आया है, यद्यपि यह दोनों प्यारी बहनें हैं। आज कल का तार्किक समय अग्निहोत्र द्वारा वर्षा के काबू करने को असम्भव कह दे, परंतु बहुतसी पुरातन जातियों का विश्वास था कि वह

चंचल मेघों को अपने दास बना सक्ते हैं और यथेच्छा अपनी खेतियों को हरा भरा कर सक्ते हैं। इस उद्देश्य से हमारे ऋषि मुनि कई यज्ञ किया करते थे, अब तक यही बात देखी जाती है कि जब कभी भारतखण्ड के किसी भाग में वर्षा का अभाव हो, तो बड़े २ साधु पण्डित नगरों में धन एकत्रित कर हवन रचाया करते हैं और प्रायः कृत कृत्य भी होते हैं। कुछ मास पूर्व वर्षा का अभाव सबको ज्ञात है और यह भी मालूम होगा कि बहुत से स्थानों में हवन किये गये और प्रायः वर्षा हुई।

जब २०वीं शताब्दी का मनुष्य मौसमों, ताप, आबो हवा को अपनी बुद्धि द्वारा बदल सक्ता हो; जब मंगलग्रह निवासियों के साथ बात चीत करने पर तत्पर हो; जब वह विद्युत् के प्रभाव को घरों पर से हटा सक्ता हो, तो क्या प्रकृति का मालिक होते हुवे इस में यह शक्ति नहीं कि मेघों की चंचलता और अनियमता को रोक, उन्हें सुखकारक दास ब-

नाते ? महाशयो विश्वास रखो कि वह ऐसा अव-श्य कर सक्ता है। एक महात्मा का यह विश्वास है कि मनुष्य पृथ्वी को हिम पिगला, उन को सुखमय निवास स्थान निस्संदेह बना सकेगा। एक योगीराज स्वामी साहब का यह मत है कि परमात्मा ने उन पदार्थों को इस संसार में पूर्ण बनाया है, जिन पर मनुष्य की आंक द-खल नहीं दे सक्ती जैसे लोक लोकांतर, परन्तु वह पदार्थ अपूर्ण हैं जिन्हें मनुष्य ने अपनी बुद्धि द्वारा पूर्ण करना है। अतः निस्सन्देह वर्षा की नियमता को भी हम ने पूर्ण करना है। वेदभगवान यज्ञ को वर्षवृद्धा, मधुजिह्वा और पर्जन्य जनक कहते हैं, तो क्या वेद असत्य कह रहे हैं? नहीं महाशय कूप मण्डूक की न्याई हमने अपनी बुद्धियों को परिमित किया हुआ है, विश्वास के स्थान पर संशय हृदय में जमाए हुवे हैं, इस कारण हम मेघों के दास बनाने को असम्भव सम-झते हैं, याद रखो : —

संशयात्मा विनश्यति

संशय करने वाला मनुष्य तथा जाति नाश होती है। अतः उठो, जागो और महात्मा पूर्वजों का अनुकरण करो, इसी से कल्याण, सुख, आनन्द की वर्षा होगी।

इस उद्देश्य की प्राप्ति कई विधियों से हो सकती होगी, परन्तु हमारे पूर्वजों ने जितनी विधियां मालूम की थीं, उन में से दो का वर्णन हम यहां संक्षेप से करते हैं।

(1) विद्युत् द्वारा वर्षा लाना—युद्धक्षेत्र में कई प्रकार के भीषण अस्त्र शस्त्र आर्य्यों के पास होते थे। उन में से वायवी, आग्नेय तथा वारुणेय अस्त्रों शस्त्रों का नाम सब पठित आर्य्यों को मालूम है। अग्नि बरसाने वाले शस्त्र के प्रभाव को दूर करने के लिये वारुणेय शस्त्र प्रयुक्त किया जाता था। वर्षा बनने के सिद्धान्त जो Encyclopædia Britanica नामी बृहत् कोश में दिये हैं; उन में से एक यह भी है कि जब अकस्मात् अत्यन्त बृहत् धक्का हवा को पहुंचे, तो वाष्प एकत्र होने से भारी होकर वर्षा होसकती है।

साथ ही विद्युत् द्वारा वर्षा की जाती थी; उसका मर्म हमारे पाठकों को श्री प्रो० स० च० सिंहा के "विद्युत् शास्त्र" से पता लग जावेगा। अभिप्राय यह है कि मनुष्य के लिये वर्षा का काबू करना कठिन व असम्भव काम नहीं है।

(II) अग्निहोत्र द्वारा वर्षा लाना—दूसरी विधि वर्षा लाने की बृहद् हवनों द्वारा थी। यद्यपि पदार्थ-विद्या बड़ी उन्नति कर चुकी है, परन्तु वर्षा के बनने के विषय में कोई पक्की सम्मति नहीं देसक्ती। यह शब्द पाठकों को आश्चर्यदायक प्रतीत होंगे, परन्तु यह पूर्ण तथा सत्य हैं, अतः हवन करने से किस प्रकार वर्षा हो सकती है उन कारणों को यदि पूरे तौर पर वर्णन न कर सकें, तो हमारे पूर्वजों की विधि में असत्यता नहीं आती, केवल हमें स्वयम् अज्ञानी मानना चाहिये। इस विषय पर तीन सिद्धान्त प्रकाश डालते हैं, जिनको सरल भाषा में बयान किया जाता है।

(क) ताप भिन्नता से वर्षा हो सक्ती है।

सिद्धान्त यह है कि जब आकाश में भिन्न ताप के दो वायुदल परस्पर मिलें, जिन में अपने २ ताप अनुसार वाष्प (बुखारात) सर्वथा परिपूर्ण हों। अर्थात् उस ताप पर अधिक वाष्प वह वायु न जज़ब कर सकें, तो मिलने से उन दो वायुदलों का ताप समान हो जावेगा; इस पर कुछ वाष्प सम्मिलित वायु में रह नहीं सकेंगे, अतः वह वाष्प वर्षा रूप में भूमि पर गिर पड़ेंगे। इस वर्षा के लाने में यह नियम काम करता है कि "अधिक ताप पर अधिक वाष्प, और कम ताप पर कम वाष्प वायु ग्रहण कर सकती है।" सम्मिलित वायु का ताप कम हो जाने से वाष्पों की मात्रा अधिक होने से वह मेघ रूप हो जावेंगे। अग्निहोत्र करने से यह नियम कैसे घटता है?

हम बहुल हवन करने से एक स्थान पर असाधारण गर्मी उत्पन्न करते हैं। आस पास की वायु गर्म होकर ऊपर चढ़ जाती है और आपेक्षिक शीत वायु से मिल कर वर्षा का कारण हो सकती है।

प्रश्न वाह यह सिद्धांत तो बड़ा निर्मूल है। बनों और घरों को आग लगने से वर्षा क्यों नहीं हो जाती ?

उत्तर—महाशय धैर्य रखिये, इस प्रश्न का उत्तर आप को दूसरे सिद्धांत से मिलता है।

(ख) वाष्प युक्त वायु के शनैः शनैः ऊपर जाने से वर्षा होती है। भूमि के साथ वाली वायु जिस में वाष्प थोड़े हैं, वह भी गर्म होकर जब शनैः शनैः ऊपर चढ़ती है, तो धीरे २ ठण्डी होती जाती है। ऊपर कहे नियमानुसार इस का ताप कम हो जाने से वह कम वाष्प ग्रहण कर सकेगी अर्थात वह थोड़े से वाष्प भी इसे परिपूर्ण कर देंगे, यदि उस वायु के शनैः शनैः चढ़ने में आंधी आदि या और कोई कारण बाधक न हो, तो आकाश में जाती हुई वायु ऐसे स्थान पर पहुंच जावेगी, जहां परिपूर्णता की सीमा में भी वाष्प उस में अधिक होकर मेघ रूप हो जावेंगे। शीत के कारण वस्तुवें जमतीं तथा सुकड़ती हैं

वाष्प भी एकत्र होकर गहरे बादल हो जायेंगे और फिर इस हवन से वर्षा हो सकती है।

महाशय इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हो जायेगा। जब जंगल और नगर की आग लगती है, तो प्रायः आंधी चला करती है इस कारण वाष्प सारे वायु-मण्डल में फैल जाते हैं, स्थानिक वायु में नहीं रहते। अतः वर्षा नहीं हो सकती। परंतु हवन की आग में कोई आंधी नहीं आती, वहां की वायु नियमित अग्नि से तपित होकर धीरे धीरे ऊपर चढ़ती है इसलिये वर्षा का कारण हो सकती है। हां यदि आंधी आ जावे, तो वर्षा की सम्भावना न होगी।

आक्षेप—भला मान लिया कि उपरोक्त सिद्धान्तानुसार हवन द्वारा वर्षा हो सकती है, परंतु यह फल तो केवल नियमित विधि से लकड़ी जला कर प्राप्त हो सकता है, फिर सामग्री डाल कर धन व्यर्थ गंवाने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—महाशय ! यह आक्षेप भी ठीक नहीं; क

पर हम सामग्री को कृमि नाशक, रोग नाशक, शारीरिक बलवर्द्धक सिद्ध कर चुके हैं। अतः उस का अपना लाभ बहुत है, परन्तु तुम्हारा आक्षेप बिल्कुल निर्मूल हो जाता है, जब हम वर्षा के तीसरे सिद्धान्त को देखते हैं।

(ग) वायु में कणों [अणुओं] द्वारा वर्षा होना। सिद्धान्त यह है कि जिस वायु में छोटे छोटे आदि कण हों, उस में वाष्प जमने का कारण उपस्थित है, जो वायु सर्वथा इन कणों से रहित हो उस में वाष्प जम नहीं सक्ते। अब अग्निहोत्र करके हम सुगन्धी दायक पदार्थों के छोटे छोटे दाने करते हैं, यह दाने वाष्प जमाने का कारण विशेष होने से शीघ्र वर्षा का साधन हो सक्ते हैं। सम्भव हो सक्ता है कि अन्य आदि कणों से हमारी सामग्री के दानो में अधिक गुण वाष्प जमाने का हो, यदि इन को अन्य वस्तु के दानों से वायु में उपस्थित किये जावें, वह कृषियों जमींज को वृद्धि देने वाले हो सक्ते हैं।

पाठक गण अब हमने तीन प्रकार से सिद्ध किया

है कि अग्निहोत्र वर्षा का कारण होसक्ता है, वस्तुतः मनुष्य अभी तक ज्ञानसमुद्र के तट पर कंकर ही चुन रहा है, अतः कह नहीं सक्ते कि अन्य कितने कारण वर्षा लाने के होंगे, परन्तु इस में सन्देह नहीं कि शनैः शनैः जब हमारी बुद्धि बढ़ेगी, तो हम आर्य योगियों की सत्यता पहिचानेंगे ।



द्वितीय भाग।

अर्थ समझने की आवश्यकता।

बहुतसे आर्य्य अग्निहोत्र नहीं करते। जहां उन को समय तथा धनके अभाव की शिकायत होती है, साथ ही यह भी प्रायः कहते हैं कि उन का मन अग्निहोत्र तथा सन्ध्या में नहीं लगता। ठीक है, मन तो किसी बातमें तब लगे, जब उस का भी वहां कोई काम हो। "युग पज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्।" यह गौतम ऋषि के वचन हैं। एक कालमें एक ही ज्ञान मन को हो सक्ता है। यदि सन्ध्या के मन्त्र ज्ञान पूर्वक पढ़े जावें, तो मन उन में अवश्य लगा रहेगा, परन्तु तोते की न्याईं जब केवल ज़बान शब्द निकाले, आत्मा से निकले हुवे शब्द न हों, मन कैसे लग सक्ता है? महाशय! अर्थों को समझने से ही मन लगेगा और प्रति दिन उन अर्थों पर अधिकार विचा।

रने से मन किसी अन्य विचार में लिप्त नहीं होसक्ता। जो बात हम सर्वदा सोचते रहें, वैसे ही बन जाते हैं। इस कारण जब सात्विक बातों का विचार सर्वदा करेंगे, तो सात्विकवृत्ति के हो जावेंगे। अर्थों के विना मंत्र उच्चारण करने से कोई लाभ न होगा, जैसा सोने का बोझा उठाने वाला गधा स्वर्णमय स्वयम् नहीं हो जाता। इसे सांसारिक भाई सर्व प्रतिवर्ष राम को गोंकते रहते हैं, पर फिर भी राम के गुणों को धारण कर मुक्ति के भागी नहीं हो सक्ते, क्योंकि—

मन में तृष्णा पाप की, राम भजे क्या हो ?
माला फेरत जन्म गया, पर गया न मन का फेर।
करका मनका छोड़ के, मनका मनका फेर॥

सज्जन पाठकों को छान्दोग्योपनिषद् में नारद सनत्कुमार की कथा विस्तार से सुनाने की आवश्यकता नहीं। नारद महाराज शोकसागर से पार उतरने के लिये सनत्कुमार राजर्षि के पास वास्तविक ज्ञानार्थ जाते हैं। यद्यपि संसार की सब उत्तम विद्याओं को पढ़

चुके थे, वह उन मे सन्तुष्ट नहीं हुए, क्योंकि उन्हों ने जो कुछ पढ़ा था वह (नामैवैनत्) नाम मात्र ही था, उसे अनुभव नहीं कर सके थे, सत्यभाव को अनुभव करने के लिये, फिर से गुरुसेवा करते हैं। क्या ही उत्तम शिक्षा हम अहंकारी तुच्छ ज्ञानी मनुष्यों के लिये इस कथा में भरी है। नर नारी को उचित है कि नारद के समान अपनी तुच्छता को देखते हुवे, शोकातुर हों और प्रतिदिन शब्दों के अर्थों को अधिक २ जानने का यत्न करें। विना समझे वेदमंत्रों को बोलकर उन का घात न करें, बलकि उन के पद २ की महिमा जानकर अपने आप को सुधारें। याद रखिये कि यदि वेदमंत्र का तात्पर्य न समझें, तो विरोचन असुर के समान गति होगी। वेद भगवान् स्वयं कहते हैं।

तद्विष्णोः परमं पदम् सदा पश्यन्ति सूरयः

शान्तिदायक, सर्वव्यापक परमात्मा के परम धाम को अर्थ, तत्व जानने वाले प्राप्त करते हैं।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः ।

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।

सूक्ष्म अर्थों के जानने वाले, अपनी स्वच्छ और सूक्ष्म बुद्धि से, परमेश्वर का दर्शन कर सक्ते हैं ।

अग्निहोत्र करने का काल—जो सिद्धान्त जातीय उन्नति में पेश किया गया है, उस से पता लग गया होगा कि एक समय सब देश निवासियों का हवन करना अत्यावश्यक है । इस कारण हम मुण्डकोपनिषद् में पढ़ते हैं ।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथा कालं चाहुतयो ह्याददायन ।

तन्नयन्त्येता: सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेको अधिवासः ।

जो पुरुष इन चमकती हुई लाटों में समय पर आहुति डालता रहता है सूर्य की किरनें उसे वहां लेजाती हैं जहां ब्रह्म का वास है (योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्)

सूर्योदय व अस्त होने से पूर्व या पश्चात् अग्निहोत्र किया जावे, इस विषय में ब्राह्मण ग्रन्थों में बड़ा विवाद है, जिसे लिखने की आवश्यकता नहीं। भगवान दयानन्द ने जो आज्ञा दी है कि

सूर्योदय के पश्चात और अस्त होने से पूर्व ही प्रति दिन होम करना चाहिये वह ठीक है। अतः नियम पूर्वक समय पर सब देश निवासियों को हवन करना उचित है।

अग्निहोत्र की विधि।

जिस स्थान पर हवन करना हो, उसे पूर्व अत्यन्त स्वच्छ मलरहित कर लेवें; आस पास मलीन और अनियमता से रखी वस्तुओं का दृश्य न हो, क्योंकि वह गन्दी वस्तुवें मन को, मंत्रों से हटा अपनी ओर आकर्षित करेंगी। साधारणतया लोग इस स्थान पवित्रता पर ध्यान नहीं देते, परन्तु यह सब से आवश्यक है, इस कारण इतने शब्द लिखने पड़े। जब सब पदार्थ शान्तिदायक आस पास हों तो हवन

करने से पूर्व देख लेना चाहिये कि सब आवश्यक वस्तुएं उपस्थित हैं - कुण्ड, समिधा, साधारण पलाशादि की लकड़ी, घृतपात्र, घृतचमस, शुद्ध सामग्री, धूप, कपूर, दियासलाई, जल तथा प्रोक्षणी पात्र। यह पदार्थ सब पवित्र हों और समिधा आदि में कई बार कीड़ियां या अन्य कृमि मौजूद होते हैं, उन को ध्यान से देखना चाहिये।

मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करना चाहिये। ईश स्तुति के कुछ मन्त्रों का पाठ करें, जिस से धीरे धीरे मन संसार के व्यवहारों को भूल कर अंतर मुख होगा। फिर आचमन लेकर "ओं भूर्भुवःस्वः" से आरम्भ करके अग्न्याधान करें और फिर जैसे मन्त्रों की व्याख्या में बताया है, वैसे आहुतियां डालें।

इस प्रकार, यथा काल और यथाविधि हवन किया हुआ लाभदायक होगा, परन्तु विश्वास और श्रद्धा की आवश्यकता है। यदि एक दो वर्ष में लाभ होते मालूम न हों तो मायूस होकर त्याग न देना

चाहिये, परन्तु श्रद्धा पूर्वक यज्ञ करने से समय आ-जावेगा जबकि सुफलता दिखाई देगी। गौतम महाराज कहते हैं

"आप्तोपदेशः शब्दः स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्।"

यथार्थ उपदेश दो प्रकार के होते हैं एक, जिन का फल सामान्य से देख सकें, जैसे किसी सज्जन ने कहा कि अग्नि में हाथ डालोगे, तो जल जावेगा। हमने कहना न मान कर हाथ डाल दिया, परन्तु दुःख भोगने लगे। दूसरा उपदेश ऐसा है जिस का फल दिखाई नहीं देता, जैसे अग्निहोत्र के फल, परन्तु ऋषि लोगों ने इसकी प्रशंसा की है। वह इसे लाभदायक समझ कर स्वयम् करते थे और हम ने विज्ञान तथा तर्क द्वारा भी उसे लाभदायक देखा है। अतः अवश्य शुभ फल होते होंगे, हमें अविश्वास के सागर में डावांडोल न होकर यथा विधि और नियमपूर्वक होम करना चाहिये, उस के बदले में मुण्डकोपनिषद् के वाक्यानुसार अत्यन्त सुख प्राप्ति हो सकती है।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।

प्रियां वाचमभिवदन्त्यो ऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः।

"आवो' आवो'" ऐसा कह कर ब्रह्मवर्चस के देने वाली आहुतियां यज्ञ करने वाले को देवयान में से ले जाती हैं। उस का सन्मान करती हुई उसे यह मधुर वचन कहती हैं " यह आप का पवित्र ब्रह्मलोक है जिसे आप ने सुकर्मों से प्राप्त किया है " सज्जन पाठको 'श्रद्धा करो'। इस विश्राम और श्रद्धा पर वेदों ने भी बल दिया है और शतपथ ब्राह्मण में अश्रद्धा को सुन्दरी स्त्री और श्रद्धा को कुरूपा स्त्री के समान कहा है। क्यों कि नरनारी अश्रद्धा के साथ बड़ा प्रेम करते हैं। बाह्य सुन्दरता की ओर मत जावो, सुन्दर बेर अन्तर कृमियों से भरा होता है, परन्तु खुर्दरे छिलके से ढके नारियल में श्वेत गीरी

निकलती है। सत्यता की तलाश करो और उस पर दृढ़ रहो ।

आचमन करने का प्रयोजन-आचमन लेने से कण्ठ की कफ़ दूर होकर मधुर स्वर निकलेगा, जिसका असर हमारे तथा अन्यों के हृदयों पर अधिक होगा, (ख) यदि शरीर में सुस्ती हो, वह अङ्ग स्पर्श के उत्तम मन्त्रों से जल छिड़क कर दूर करनी चाहिये। (ग) यदि सुस्ती न भी हो, तो भी अङ्ग स्पर्श अवश्य करना योग्य है, क्यों कि नाम लिये अङ्गों पर अपनी इच्छा शक्ति (will force,) स्थिर तथा केन्द्रित कर देने से उन अङ्गोंकी शक्ति बढ़ती है, यह सच्चाई पाश्चिमी लोग भी मानते हैं क्यों कि सैन्डो के चलाये डैम्बैल व्यायाम में यदि इच्छा शक्ति अङ्ग पर न लगाई जावे, तो शरीर वृद्धि नहीं होती। आधुनिक भीम प्रो० राम-मुर्ति भी इच्छा शक्ति पर बल देते हैं, इन कारणों से अङ्गों पर जल छिड़कना बहुत उपयोगी है।

(घ) वेद भगवान ने जल के प्रभाव को इस प्रकार कहा है :-

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये।

जल में अमृत है, जल सर्वरोग औषधि है।

आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्।

जल सब रोगों के नाश करने वाला है। वह तुम्हारे लिये भी औषधि हो।

आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्।

जल सब रोगों का नाशकर्त्ता है, स्थिर रोगों से वह तुम्हें सुरक्षित करे।

(च) एवम् शतपथ ब्राह्मण में भी जल की बड़ी प्रशंसा की है, उसको रोगों का नाश करने वाला कहा है। यह जल अन्नादि सर्व प्रकार की औषधियों वनस्पतियों को उत्पन्न करने वाला, सारी भूमि को आच्छादित करने वाला है और हमारी पृथिवी चारों ओर से इस जल से घिरी हुई है। वाष्प के रूप में जल ऊपर चढ़ता है, वैसे हमें ऊपर चढ़ने की शिक्षा देता है।

सारे जगत का आधार फिर जल पर है। अतः मनुष्य जल पर काबू कर सक्ता है। अर्थात् वर्षा का काबू करना मनुष्य के लिये कठिन नहीं।

आपो वा अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तदेनमप्स्वेव प्रतिष्ठापयति।

उपरोक्त कई कारणों से कुण्ड के चारों ओर जल की खाई बनाई जाती है और जल से अङ्ग स्पर्श किये जाते हैं, यज्ञवेदि को पृथिवी से उपमा दी जाती है, जैसे वस्तुतः भूमि को चारों ओर से जलनिधि ने घेरा हुआ है वैसे वेदी के चारों ओर जल डालने से अपने सामने हम भूमि का दृश्य लाते हैं, ताकि यज्ञों के करने से सकल भूमि का आधिपत्य हममें आवे और संपूर्ण ऐश्वर्य्य के स्वामी होवें।

कीट आदि को कुण्ड में गिरने से रोकने के लिये, जो जल का उपयोग है, वह सब पाठकों को ज्ञात है।

आचमन तथा अङ्ग स्पर्श मन्त्राः

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥

इस से एक आचमन। हे अमृतरूपीजल ! तुम आच्छादन हो, मेरे सब पापों, रोगों और मलीनताओं को ढक कर शुद्ध करो।

ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥

इससे दूसरा। हे अमृत रूपी जल! तुम ढकने हो, मेरी बुरी कामनाओं और विचारों को आच्छादित करो।

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥

इस से तीसरा। हे अमृत ! तुम सत्य, यश तथा श्री हो, मुझ में भी सत्य, कीर्त्ति तथा ऐश्वर्य्य आश्रय लेवें।

जिन २ अङ्गों के नीचे नाम हैं, स्पर्श करते समय अपनी इच्छा शक्ति उन पर केन्द्रित करनी चाहिये और देखना चाहिये कि उन अङ्गों ने कोई बुरा काम तो नहीं किया।

ओं वाङ्मऽआस्येऽस्तु ॥ मेरे मुख में वाणी शुद्ध, मधुर और स्पष्ट हो ।

ओं नसो मे प्राणोऽस्तु ॥ मेरी नासिकाओं में प्राण नियम पूर्वक चल कर बल देवें ।

ओं अक्ष्णोर्मेचक्षुरस्तु ॥ मेरी आंखें भली प्रकार शुभ कर्मों को ही देखें ।

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ मेरे कानों में सत्य वाणी सुनने की शक्ति खूब बढ़े ।

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ मेरी भुजाओं में बल बढ़ता जावे ।

ओं ऊर्वोर्मेऽओजोऽस्तु ॥ मेरी जंघाओं में भी बल बढ़े ।

ओं अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सहसन्तु ॥

मेरे शरीर के सारे रोग रहित अङ्ग जो दृष्ट व अदृष्ट हैं, पूर्ण होकर वास करें ।

अग्नि शब्द की व्याख्या

श्री यास्काचार्य्य ने अपने निरुक्त में अग्नि के धात्वर्थ भिन्नमतानुसार यूं बताये हैं:

"अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति संनममानः, अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविर्नक्नोपयति न स्नेहयति, इत्यादक्ताद्‌ दग्धाद्वानीतादिति शाकपूणिः"

(१) अग्नि का नाम अग्नि इस कारण है कि वह अग्रणी रूप से सब यज्ञों में प्रथम उपयुक्त होता है। अग्निर्देवानाम् सेनानीः (देवताओं का सेनापति, नेता अग्नि है। यस्त्वा गणां अग्र उत्वा नाम जायते तस्मादग्निर्नामासि (निःसन्देह वह अग्नि, देवताओं से आगे उत्पन्न हुआ इस कारण उसको अग्नि कहते हैं)

यज्ञों में पहिले अग्नि स्वरूप परमात्मा का ही ध्यान करते हैं, ताकि अग्नि के गुण धारण कर सकें और उसके मन्यु से भयभीत होकर शुभ कर्मों में जीवन

व्यतीत करें। यह अग्नि स्वरूप परमेश्वर सब संसार के निर्माण में पूर्व होने के कारण और सब के नेता होते हुवे अग्नि अग्रणी है।

(२) चूंकि अग्नि वस्तुओं के अवयवों को अपने अङ्गों के समान सूक्ष्म कर वायु मण्डल में मिला देता है, इस कारण [अङ्ग+नि (लेजाना)] अग्नि नाम है। जगदुत्पादक सर्वेश प्रकृति तथा जीवों को अपने २ कर्मों के अनुसार लगाकर सृष्टि स्थिति प्रलय रूपी व्यवस्था कर देता है अतः वह अग्नि है।

(३) पदार्थों को रूखा सूखा कर देने से और जलाने द्वारा होने से भी (अक सुखाना) अग्नि है, इसी प्रकार सब दुराचारियों को पूर्ण दण्ड देने वाला मन्यु रूप तप: परमात्मा है (तपः पुनातु पादयोः)-इस विचार से देवेश्वर न्यायशील पक्षपात रहित दयालु को अग्नि कहना ठीक है।

(४) (इण धातु से) गति तथा प्रकाश उत्पन्न करना; (अञ्जु धातु से) रूपों को प्रकट करना,

(णिञ् धातु से) पिघलाना, बनाना, लेजाना-उपरोक्त शक्तियां रखने से भी अग्नि नाम पड़ा है और (अगि गतौ धातु से) चेष्टा, प्रयत्न तथा ज्ञान के अर्थों में भी अग्नि शब्द आता है। अग्नि गतिमान् है और दूसरे पदार्थों को गति देता है यह नियम इस के धातु से ही स्पष्ट है। ज्ञानस्वरूप, सृष्टि स्थिति प्रलय की चेष्टा करने वाला, संसार पोषक, ज्ञान प्रेरक होने से परमात्मा को अग्नि नाम से याद करते हैं। जो शिक्षाएं हम अग्नि के धर्मों से ग्रहण कर सकते हैं, वह कही गई हैं। इन से स्पष्ट हो गया होगा कि हम अग्नि को नहीं पूजते परन्तु इस के कर्मों को अपने जीवन में घटाना चाहते हैं और उस को परमात्मा का स्वरूप तथा उस की बनाई हुई वस्तु मान कर कलादि से लाभ लेना चाहते हैं और सब से बढ़ कर अग्निस्वरूप परमात्मा को याद करना चाहते हैं। याद रहे कि कठोपनिषद्, तैत्तरीयोपनिषद् और अन्य उपनिषदों में तथा वेद भगवान् ने स्वयम् कहा है कि अग्नि, परमेश्वर

का नाम है और उसका बनाया हुआ ही एक पदार्थ है अतः भौतिक-अग्नि को पूजा काम कर सकता है ?

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

उसी जगदीश्वर के भय से अग्नि तथा सूर्य्य तपते हैं और वायु, इन्द्र तथा मृत्यु अपना २ काम करते हैं। यह ख्याल हमारा पूर्वजों के हृदय में वास करता था, अतः वह परमात्मा ही के उपासक थे अग्नि पुजारी नहीं थे।

"एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च"

सब भूतों में जो भिन्न २ रूप में रहने वाला है अन्तर्गत एक आत्मा है और चूंकि परमात्मा का अग्निस्वरूप परिकल्पित किया गया है तथा कारण पवित्र रूप पर ऋषियों ने ध्यान किया था।

स्वाहा शब्द की व्याख्या "स्वाहा आहुतयो देवा अग्नेनेति" से अग्नि नाम परमेश्वर ही का है

जाने के लिये, असुर प्राणी ने जिस शब्द को कह कर, बुलाया जाता है वह स्वाहा है। पौराणिकों ने इस शब्द के कई अलंकार बांधे हैं। इसे हुतभुक्प्रिया, वन्हिवधू, अग्नर्यी, अनलप्रिया, अग्निभार्य्या, दक्ष कन्या कहा है। और [illegible] लिहाज से 'मन्त्राणाम फलदात्री' (मन्त्रों के फल को देने वाली) 'देव पोषण कारिणी' (देवताओं को पालन करने वाली) देव जीवनरूपा (देवों के जीवन का रूप) 'घोर संसार तारिणी' (भीषण संसार से तराने वाली) सिद्धिदा (इच्छाओं के पूर्ण करने वाली) इत्यादि नामों से पुकारा है। अत्युक्ति और अलंकार को निकाल कर स्वाहा का सत्य स्वरूप प्रकाश में आ सकता है।

यदि [illegible] कि स्वाहा के अर्थ प्रकरण को देख कर [illegible]। [illegible] निमन्त्रण, [illegible], [illegible] वाली, [illegible] और युद्ध की शिक्षा देने वाली, यज्ञ क्रिया, युद्ध प्रबन्ध को ठीक रखने वाली आदि अर्थ हो सकते हैं। इसि

देते समय इस शब्द का उच्चारण तीन बड़ी शिक्षायें देता है (१) अग्नि में जो सामग्री डालते हैं वह पवित्र है, सन्मान तथा हर्ष सहित न कि कृपणता के साथ, हम हवि आग में डालते हैं। आनन्द पूर्वक उस (स्व)धन को (आहा) त्यागने से आत्मत्याग का भाव बढ़ता है। (२) उपरोक्त भावों से दी हुई हवि स्वीकार हो गई; अर्थात् अपना कार्य्य रोगनाशक आदि का वह पूरा करेगी ऐसा निश्चय भी स्वाहा शब्द से करना चाहिये। (३) जो प्रार्थनायें वेद मन्त्र द्वारा परम-दयालु, तेजोनिधि, बलदा, परिपालक, ऐश्वर्य्य-घन, नित्य सुख प्रदायक, सकल विश्वपोषक सर्वेश से हमने की थीं, वह भी स्वीकार हो गईं-ऐसे निश्चय तथा हर्ष का प्रकाश करने वाला स्वाहा शब्द को मानने से यह बड़ा रोचक बन जाता है।

"ओं" शब्द का भावार्थ।

योगाभ्यास करने में ओं शब्द और उसकी मात्राओं पर विचार किया जाता है। इस शब्द की

जितनी महिमा उपनिषत्कारों ने की है, वह पाठकों को उपनिषदों के पाठ से पता लग सकती है। इस पुस्तक में संक्षेप से "ओं" शब्द के अर्थ बताए जा सकते हैं। ओंकार की तीन मात्रा हैं। अकार, उकार, मकार (अ+उ+म्)। ओं शब्द के उच्चारण या ध्यान करते समय क्रमवार इन मात्राओं के अर्थों को विचारना चाहिए।

अकार: विराट्, अग्नि, विश्व।

विराट्–सर्व जगतप्रकाशक, राजेश्वर, सकल संसार नियन्ता, सर्वत्र व्यापक, प्रभु को विराट् कहते हैं। स्वामी के इन गुणों को भली प्रकार विचारना चाहिए। अग्नि–ज्ञान स्वरूप, ज्योतिर्मय, सर्वज्ञ, परम-पूज्य, प्रातव्य माता का ध्यान भी अकार में करना चाहिए। विश्व–सारे विश्व का कर्त्ता, हर्त्ता, धर्त्ता, अन्तर्यामी होकर विश्व को चलाने वाला ईश भी अकार से ग्रहण करना चाहिये।

उकारः—हिरण्यगर्भ, वायु, तेजस् ।

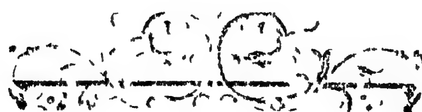
हिरण्यगर्भ—जो सूर्य्य चन्द्र नक्षत्र तारागण आदि लोकों का धाता, गर्भ और निवासस्थान है, जिस पर सत्यविद्या, यश, ऐश्वर्य्य और तेज का आधार है, ऐसा परमात्मा हिरण्यगर्भ है। वायु-जो परमात्मा सर्व सामर्थ्य वाला होने से सब पदार्थों को नियम पूर्वक चलाता है और वायु के समान जो सारे विश्व में परिपूरित है, ऐसे परमात्मा को वायु कहते हैं। तेजस्-स्वयम् प्रकाशस्वरूप और सूर्यादि लोक लोकान्तरों का प्रकाश देने वाला परमेश तेजस् कहा जाता है। यश, तेज, वर्चस् की प्राप्ति के लिये उपरोक्त गुणों का वारंवार उकार में विचार करना योग्य है।

मकारः—ईश्वर, आदित्य, प्राज्ञ ।

जो प्रभु न्यायकारी, सर्वशक्तिमान्, जगदुत्पादक, अनन्त, ऐश्वर्य्यघन हैं, ऐसे उपास्य देव की पूजा ईश्वर नाम से मकार में प्रथम करनी चाहिए ।

अनन्त पदार्थों के देने वाले, सब जीवों को प्राण तथा आजीविका देकर धारण करने हारे, अविनाशी, अजर, अमर, नित्य, शाश्वत, पुराण ऐसे पालन पोषण करने वाले सकल सामर्थ्य सागर और ज्योतिर्निधि परमात्मा आदित्य नाम से ध्यान करने चाहियें ।

जो स्वामी ज्ञानस्वरूप, सत्यविद्या और ज्ञान के देने हारे और जीवों के शुभाशुभ कर्मों के द्रष्टा, सब के हृदयों में अंगुष्ठमात्र वामनवत् होकर निवास करने वाले, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, ईश, कवि हैं, वह प्राज्ञ कहे गये हैं। उपरोक्त ईश्वरीय गुणों को वारंवार योगाभ्यास करते हुये विचारना मोक्ष की उपलब्धि करा सकता है ।



तृतीय भाग ।

मन्त्र-व्याख्या

ओं भूर्भुवः स्वः ॥

यह तीन शब्द बहुत उत्तम समझे जाते हैं, यहां तक कि इन में ३ वेदों का सारा गुप्त रहस्य कहा गया है । अतः देखना चाहिये कि किन २ अर्थों की वाचक यह व्याहृतियां हैं ?

(१) प्रथम यह ईश्वर के नाम हैं । "भूरिति वै प्राणः" जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय, और स्वयम्भू है, उस प्राण का वाचक होके "भूः" परमेश्वर का नाम है । "भुवरित्यपानः" जो सब दुःखों से रहित, जिस के सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं उस परमेश्वर का नाम "भुवः" है । "स्वरिति-व्यानः" जो नाना विध जगत में व्यापक हो के सब

का धारण करता है, उस परमेश्वर को "स्वः" नाम से याद किया है।

(२) तैतरीयोपनिषदनुसार इन तीन शब्दों के चार अर्थ संसार तथा उस के पदार्थों को संक्षेप से दिखाते हैं। तीन लोक, तीन देवता, तीन वेद, तीन प्राण। (१) पृथिवि, अन्तरिक्ष, द्यौ; (२) अग्नि, वायु, आदित्य; (३) ऋक्, यजु, साम; (४) प्राण, अपान, व्यान। उपनिषतकार का कथन है कि इन अर्थों का अनुभव करने से ब्रह्म जाना जा सक्ता है, और इन अर्थों पर विचार करने वाले को सब देवता आत्मिक बल देते हैं।

"ता यो वेद स वेद ब्रह्म सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति"

सकल जगत् की उत्पत्ति, प्रलय, धारणा पर चिन्तन करने, संसार को जो स्थूल देवता तथा सूक्ष्म प्राण देवता धारण करते हैं, जिन को वेद रूपी सूक्ष्म ज्ञान चक्षुओं से देखा जा सक्ता है, उन पर भी चिन्तन

करने से हृदय की सब गाठें टूट सक्ती हैं यह पापों के मारने वाला टोटका है।

(३) यज्ञों के करने में जो अशुद्धियां यज्ञकर्ता कर देता है उन को दूर करने के निमित्त यह व्याहृतियां उच्चारण की जाती हैं। परमेश्वर के 'भूर्भुवः स्वः' नामी गुणों को याद करने से हम विधिपूर्वक यज्ञ करने में तत्पर होते हैं और यदि सावधानी से यज्ञ करते हुवे भी कोई त्रुटि रह गई हो, तो परमेश्वर स्वयम् क्षमा करें, ऐसा अभिप्राय, यज्ञ के आरम्भ में इन तीन व्याहृतियों के उच्चारण से है। अग्निहोत्र आरम्भ करने से पूर्व हम सावधान होना चाहते हैं, सो इन शब्दों का उच्चारण करते हैं।

(४) चौथा कारण इन व्याहृतियों के प्रथम उच्चारण करने में यह है कि यज्ञ ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये भी किया जाता है। ऐश्वर्य्य तीन शब्दों का संयोग है :—सुभाग, सुयश, सौन्दर्य्य; और यही भूर्भुवः स्वः हैं, अतः इन के उच्चारण से हम सुभा-

ग, सुयश तथा सौन्दर्य की प्राप्ति की इच्छा प्रकट करते हैं। यह इच्छा तभी पूर्ण हो सक्ती है जब हम विधि पूर्वक प्रतिदिन अग्निहोत्र करें।

(५) लोक विद्याप्राप्ति की इच्छा भी यह शब्द दिलाते हैं, " भूर्भुवः स्वः " से वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण ज्ञात होते हैं, उन के उच्चारण से सर्वथा विद्वान् होने की इच्छा प्रकट करनी चाहिये।

भिन्न २ अर्थों के बारंबार मनन करने से मन की मलीनता और चञ्चलता दूर होगी और शुभ इच्छाएं प्रकट होकर, इन की प्राप्ति का यथा योग्य साधन होगा, इस कारण उपनिषदादि में इन शब्दों का महात्म्य बहुत है।

मन्त्र १

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥

इस मंत्र की व्याख्या जो शतपथ ब्राह्मण में दी हुई है, उस से " भूर्भुवः स्वः " के यह अर्थ निकलते हैं।

(१) प्रजापति ने यह सकल संसार तप करके उत्पन्न किया, ताकि जीव सुख तथा मुक्ति के भागी हो सकें। वैसे हम सारे जगत् के भले के लिये तप अर्थात् आत्मत्याग करते हैं।

(२) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, प्रजापति ने उत्पन्न करके जगत् का उपकार किया, वैसे हम मनुष्य मात्र के भले के लिये अपना जीवन व्यतीत करें।

(३) आत्मा, मनुष्य, पशु जैसे प्रजापति के उपकार से प्रकट हुवे, वैसे हम इन तीनों के उपकारार्थ यज्ञ करते हैं।

(४) "सत्यमेव व्याहृतयो भवन्ति, तदस्य सत्येनात्वधीयते" यह तीन शब्द सत्यवाचक हैं, अतः हम लोग भी शुद्ध मन तथा सत्यव्रतों से अग्नि स्थापन करें। जैसे तीन लोक स्थिर (सत्) हैं, वैसे हम भी परमात्मा के नियमानुसार चलते हुवे स्थिर रहें।

(५) अग्नि के तीन नामों के वाचक भी यह शब्द हैं:—पवमान, पावक, तथा शुचि। जिस अग्नि को स्थापित करना है, उस के उपरोक्त गुणों को धारण करने की याचना इस मन्त्र में है।

(६) 'भूर्भुवःस्वः' के पांच पद हैं-ऋतुवें भी पांच हैं, अर्थात् यह त्रिकालवाची शब्द हैं, उन के उच्चारण, ध्यान और मनन से अमृत होने का सङ्कल्प दृढ़ करते हैं।

(७) अन्तिम परन्तु आवश्यक अर्थ यह भी हैं - प्रियस्वरूप प्राण, बल का हेतु उदान, सब चेष्टादि कामों का हेतु व्यान—यह तीन वायु ईश्वर की कृपा से हमारे शरीर में सुख पूर्वक स्थित हों, ताकि बलवान् होकर हम यज्ञ किया करें और निर्विघ्न उन्हें समाप्त कर सकें।

कतिपय पाठकों के मन में शायद यह विचार उत्पन्न हो कि उपरोक्त अर्थों में खींचा तानी की गई है, परन्तु ऐसा विचार अशुद्ध होगा। हमारे ऋषि

जन निस्सन्देह ध्यान पर बहुत बल देते थे, ताकि पूर्ण महत्व पदार्थों तथा शब्दों का मालूम हो।

जन चढ़या बुरा आन्तरा देखे
मैं वेखां अक्र् साही दा।

इस प्रकार इन तीन व्याहृतियों पर ध्यान देते हुये, मन्त्र के अगले भाग पर विचार करना चाहिये। (द्यौरिव) आकाश में विचरने वाले सूर्य्य के समान (भूम्ना) ऐश्वर्य्य से मैं युक्त हूं। (पृथिवीव) विस्तृत भूमि के समान (वरिम्णा) अच्छे अच्छे गुणों की प्रसिद्धि से मैं युक्त हूं। (तस्यास्ते) आकाश युक्त लोक में रहने वाली (पृथिवी) भूमि (देवयजनि) जिस पर विद्वान् लोग यज्ञ करते हैं (पृष्ठे) ऐसी भूमि की पीठ पर (अन्नादम्) यव आदि सब अन्नों के भक्षण करने वाले (अग्निम्) अग्नि को (आदधे) स्थापन करता हूं (अन्नाद्याय) भक्षण योग्य अन्न के लिये, ताकि मैं होश्रो अन्न प्राप्त कर सकूं।

इस मन्त्र में प्रथम यज्ञ के साधन बताये हैं, सत्व-गुण और शारीरिक जल- ... न गुणों को धारण करने वाला अग्निहोत्री ठीक य ा कर सक्ता है। (२) यह यज्ञ क्यों किये जाते हैं ? क्योंकि ऐश्वर्य्य, यश, कीर्त्ति, समृद्धि अन्नादि प्राप्त हो सकें। (३) ऐसे अग्नि-होत्री का क्या नाम है ? भूमि को "देवयजनि" कहते हुवे स्पष्ट कह दिया है कि अग्निहोत्र यज्ञ करने वाले को देव कहते हैं। (४) 'अग्नि' को अन्न के भक्षण करने वाला क्यों कहा है ? ईश्वर ने अपने पुत्रों को शिक्षा दी थी कि हवन इस प्रकार करो, अग्नि में हवि डाला करो, वह आहुतियां अग्नि खाकर अन्य भौतिक देवताओं को दे देगा। शतपथ ब्राह्मण में इस मन्त्र का कूट भी उत्तर दिया है.

"स यो हैवमेतमग्निमन्नादं वेद अन्नादो हैव भवति"।

जो अग्नि को अन्न खानेवाला समझता है, वह स्वयम् अन्न खाने वाला हो जाता है, अर्थात् हवन करनेवाला समृद्ध होता है।

देवता इस मन्त्र के 'अग्नि वायु सूर्य्य' हैं। यही देवता आहुतियों को ग्रहण करने वाले तथा हमें वर्षादि से अन्न प्राप्त कराने वाले हैं, अतः यह विश्वास उत्पन्न होता है कि हमारा यत्न यज्ञ करने से निष्फल नहीं जा सक्ता।

मन्त्रों के देवता क्या होते हैं?

यास्काचार्य्य ने देवता का लक्षण यूं किया है:— 'प्राधान्यस्तुति दैवता यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्य मिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति"

जिस की स्तुति वर्णन विशेषता से की जावे, वह देवता है-जिस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा से ऋषि अपना अर्थपतिभाव-कामना पूर्ति चाहता है और जिस का मुख्यता से मन्त्र में वर्णन हो, वह उस मन्त्र का देवता होता है। अब इस मन्त्र में ऐश्वर्य्यदायक अग्नि का वर्णन है और वायु तथा सूर्य्य उस अन्न ऐश्वर्य्य की वृद्धि करने वाले हैं। अग्नि के साथ 'वायु सूर्य्य'

का मिलाना अत्यन्त ऐश्वर्य्य की कामना प्रकट करता है, जैसा कि मन्त्र के प्रथम भाग से सिद्ध है।

मन्त्र २

ओं उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सᳪं सृजेथा मयंच । अस्मिन्त्सधस्थे ऽ अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥

(उद्+बुध्यस्व) भली प्रकार बुद्धि, तेज को प्राप्त हो (अग्ने) हे प्रसिद्ध भौतिक अग्नि ! (प्रतिजागृहि) सावधानी से जागो । (त्वम्) तुम (च) और (स) यह यज्ञ (सृजेथा) परस्पर मिल जावो (मयं) मुझे (इष्टापूर्त्ते) इष्ट सुखों के देने के लिये, ताकि मैं अपनी कामनायें पूर्ण कर सकूं । (अस्मिन्) इस (सधस्थे) गृह में (अध्युत्तरस्मिन्) जो पवित्र सुसज्जित, सुशोभित है (विश्वेदेवाः) सारे देवता-विद्वान् लोग (यजमानश्च) और यज्ञ करने वाले (उत) उन्नति पूर्वक बैठें ।

आध्यात्मिक अर्थ

प्रकाश स्वरूप ज्योतिर्मय परमात्मन्! शुद्ध बुद्धि देकर अच्छी विद्या से प्रकाशित कीजिये; भली प्रकार हमारे सुख के लिये अविद्या रूप निद्रा को छुड़ा, विद्या से चेतन करिये। दयालु प्रभो! आप और यह शरीर दोनों हमारी सिद्धि के लिये मिल जावें। आप की आज्ञा विरुद्ध यह शरीर कुछ न करे। इस पवित्र, सुशोभित, आश्चर्य युक्त शरीर में सब इन्द्रियां यज्ञ करती हुई उन्नति पूर्वक वास करें।

उपरोक्त मन्त्र कतिपय विचारों से बहुत उत्तम है।

"पुरुषो वै यज्ञः" ऐसे वाक्य उपनिषद् में आए हैं। शरीर को ब्रह्मचर्य में रखते हुए उसे पवित्र बनाना यज्ञ करना है। २४ वर्ष का ब्रह्मचर्य रखना प्रातः काल का यज्ञ है, ४४ वर्ष का ब्रह्मचर्य मध्यान्ह दिन का यज्ञ है और ४८ वर्षों का ब्रह्मचर्य सायंकाल का यज्ञ। इस कारण शरीर यज्ञ है। दूसरा सब इन्द्रियां शरीर को धारण करने के लिये आहुतियां दे रही हैं यह स्पष्ट है, अतः इस कारण भी शरीर यज्ञ हुआ।

(क) घरों की पवित्रता सफाई तथा सजाने पर बल देता है और जहां हवन किया जावे, वह स्थान कुरूप, मलीन, बदबूदार न हो, ऐसी शिक्षा देता है।

(ख) शारीरिक तथा आत्मिक पवित्रता पर भी बल है। इस के अतिरिक्त अग्निहोत्री कभी अपने मुख से यह शब्द नहीं निकाल सकता कि मेरा शरीर पवित्र है, यदि उस के मन में लोभ, मोह, ईर्षा द्वेष, असत्य वचन की मलीनता भरी हों। अतः शरीर को पवित्र करने के लिए इन सब दोषों से हटाने के यत्न होने चाहियें, ताकि प्रत्येक समय जब यह मन्त्र पढ़ा जावे, तो पूर्व से अधिक पवित्रता अपने में हम देख सकें।

(ग) विद्वान् तथा यज्ञ करने वाले सज्जन हमारे गृह को अपना निवासस्थान, सभामण्डल बनावें। यह तभी हो सकता है जब हम स्वयम् बहुत विद्वान् हों और ईर्षा तथा गर्व त्याग अन्य विद्वानों को

सेवा शुश्रूषा करने में बेइज़्ज़ती न समझें, जैसा कि आज कल के नीम पढ़े महाशय किया करते हैं।

(घ) मन्त्र का महत्त्व अधिक होजाता है, जब (उद्+सीदत) शब्दों पर विचार करते हैं। प्रथम मन्त्र में स्थूल वस्तुओं की प्राप्तिके अर्थ प्रार्थना थी। यह दूसरा मन्त्र "उद्" विद्या जैसे सूक्ष्म पदार्थों के लिये याचना है, अतः हम विद्या, यज्ञ, योगादि द्वारा ऊपर उठते हैं और सूक्ष्म अवस्था पर स्थिर बैठ जाते हैं। एक महात्मा ने सत्य कहा है किः—

Thy praying heart lacks truth

ऊपर ऊपर पयारे संग प्रीत लगाई मन में प्रेम नहीं।
चित्रे गुल में रंग है गुल का व लेकिन बू नहीं॥

महाशयो ! यदि हार्दिक और सत्य मन से प्रार्थना की जावे, तो सुफल होती है कोई सन्देह नहीं।

मंत्र ३

ओं अयं त इध्मऽआत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्च-

सेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे-इदन्न मम ।

(अयं) यह (इध्म) समिधा (ते) तेरा (आत्मा) जीव, प्राणों के धारण करने वाला (पुष्टिदायक) है । (जातवेदस्) हे चराचर जगत् के जानने हारे सर्वव्यापक, सर्वविद्याभण्डार, ज्ञानमय, वेदों तथा संसार के पदार्थों को उत्पन्न करने हारे, शुद्ध बुद्ध स्वरूप जगदीश्वर-परन्तु यहां भौतिक अग्नि को जातवेदस् कहा है। (तेन) उस लकड़ी द्वारा (इध्यस्व) चमको (वर्धस्व च) और वृद्धि को प्राप्त करो । (च+अस्मान्) तथा हम को भी (इद्ध) चमकाओ—तेजस्वी ओजस्वी, यशस्वी करो (वर्धय) और हमारी खूब वृद्धि करो । (प्रजया) पुत्र पौत्रादिक सन्तान से (पशुभिः) गौ, बैल, घोड़े, हाथी आदि पशुओं से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्म जानने वाले महात्माओं के ओज से (अन्नाद्येन) खाने योग्य अन्न से (समेधय) उपरोक्त पांच प्रकार से हमें युक्त करो (स्वाहा) हर्ष का

अवसर है कि हमारी उपरोक्त प्रार्थना स्वीकार होगई (इदम्) यह हवि (अग्नये) इस भौतिक अग्नि को है (जातवेदसे) जो सर्व पदार्थों में विद्यमान है। (इदम्) यह आहुति (न मम) मेरी मलकियत नहीं।

(१) पूर्व दो मन्त्रों में अन्न, पश्वादि स्थूल और विद्यादि सूक्ष्म पदार्थों की प्राप्ति की प्रार्थना की गई है, वह प्रार्थनायें (सन्तान, पशु, अन्न के लिए) इस मन्त्र में भी पाई जाती हैं, परन्तु इस मन्त्र में उन दोनों मन्त्रों से बढ़ कर एक प्रार्थना है, वह यह कि अग्निहोत्री योगियों और परमात्मा के जिज्ञासुओं के तेज से युक्त होना चाहता है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि ऋषि श्वेतकेतु सफ़र से लौटकर जब अपने शिष्य को देखते हैं, तो शीघ्र ही यह शब्द निकलते हैं:—

"ब्रह्मविद् इव सौम्य ते मुखं भाति"

"हे प्रिय ! तेरा मुख परमेश्वर को जानने वालों के समान चमक रहा है" । साधु महात्माओं के शिर की छवि सारे संसार में प्रसिद्ध है, सो उस तेज को प्राप्त करने की कामना इस मन्त्र में की गई है। यह तभी हो सकती है, जब सुकर्म किये जावें । अतः प्रतिदिन अग्निहोत्र करते समय भी देखना उचित है कि आचार में कितनी उन्नति हम ने की है ।

मन्त्र ४.

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा ॥ इदमग्नये
इदन्न मम ॥

हे विद्वान् जनो ! (समिधा) जिन लकड़ियों से अच्छे प्रकार प्रकाश हो सकता हो, उन लकड़ियों से तथा (घृतैः) सुगन्ध दार वस्तुओं से मिले घी से (अग्नि) भौतिक अग्नि को (बोधयत) प्रकाशित करो । (अतिथिम्) उस अग्नि को अतिथि महमान जान कर (दुवस्यत) उस की सेवा सत्कार

करो—(अस्मिन्) उस अग्नि में (हव्या) हवियां (आजुहोतन) मानूय से भली प्रकार डालो ।

(१) इस मन्त्र को पढ़ कर समिधा नहीं डालनी । अगला मन्त्र पढ़ कर ही दूसरी समिधा डालनी है, परन्तु इस मन्त्र में जो शिक्षा दी गई है, उस पर ध्यान देना चाहिये । ऊपर पुत्र, पशु, अन्न, विद्या, ब्रह्म वर्चस् प्राप्ति की प्रार्थना की गई थी, अब परम दयालु परमात्मा इन को प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन बताते हैं कि विद्वान् लोग यथायोग्य इन्धन से अग्नि को प्रज्वलित कर यानों कला यंत्र आदि की रचना नित्य किया करें । आधुनिक कलाओं के प्रयोग से पश्चिम ने पुत्र, पशु, अन्न, विद्या आदि की प्राप्ति करली है और किस प्रकार वह सदैव सुख वृष्टि कर रहे हैं वह सब को ज्ञात है । परमेश्वर की उपरोक्त आज्ञा का पालना न करके भारतवर्ष इस समय दुखी हो रहा है । साथ ही पश्चिम धर्म रहित होने से दुःख का भागी हो रहा

है, यदि धर्मयुक्त विधियों से कलाओं का प्रयोग करें, तो ब्रह्म वर्चसी भी हो सक्ते हैं। हमें धर्म पूर्वक कलाओं का इस्तेमाल करना चाहिये, नहीं तो हम भी पश्चिम से अधिक दुःखसागर में पड़ेंगे।

मन्त्र ५.

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा। इदमग्नये
जातवेदसे इदन्न मम॥

हे मनुष्यो : (तीव्र) सब दोषों के हटाने में तीव्र स्वभाव वाले (घृत) सामग्री घी आदि पदार्थ (जुहोतन) हवन में डालो (अग्नये) ऐसे भौतिक अग्नि के लिये जो (सुसमिद्धाय) अच्छे प्रकार प्रकाश देने वाला (शोचिषे) शुद्ध किया हुआ और रोगों को दूर करने वाला है (जातवदसे) और सब पदार्थों में विद्यमान है।

भाव। शुद्ध किये हुवे और रोगों को दूर करने वाले पदार्थ अग्नि में डाल कर उस को प्रज्वलित

करना चाहिये--अग्निहोत्र का रोग निवारक गुण इस मन्त्र में परमात्मा दिखाते हैं और कैसे तथा किस प्रकार पदार्थ डालें, उस का भी उपदेश है।

मन्त्र ८.

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि ।[1]
बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा । इदमग्नयेऽङ्गिरसे इदन्न मम।

(अङ्गिरः) सुखदायक पदार्थों को प्राप्त कराने (यविष्ठ्य) और वस्तुओं के परमाणुओं को छिन्न भिन्न करने में जो अतिबलवान् अग्नि है (बृहत्) और जो बड़े तेज से युक्त है (शोचा) जो खूब प्रकाश करता है (त्वा) उस अग्नि को (समिद्भिः) लकड़ियों से (घृतेन) और घी आदि से (वर्द्धयामसि) हम लोग बढ़ाते हैं।

शतपथ में इस मन्त्र का अर्थ यूं किया है।

---

[1] इस मन्त्र को पढ़कर तीसरी समिधा अग्नि में डालनी चाहिये।

ओं, अङ्गिरः* नामी अग्नि! हम तुम्हें लकड़ियों तथा घी से वृद्धि देते हैं। सर्वदा बलवान् हो भली प्रकार चमको। जैसे अग्नि को घी आदि से वीर्य्यवान् किया जाता है ऐसे अन्न करने वाला सर्व प्रकार से बलवान् और प्रकाशित हो — इस का आशय है।

मन्त्र ७

ओं अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व

यह वही तीसरा मन्त्र है जिस के शब्दार्थ, भावार्थ पूर्व कह चुके हैं। इस मन्त्र को पांचवार एक २ आहुति घी की डाल कर पढ़ना चाहिये। मन्त्र की व्याख्या में यह दिखाया गया है कि पांच वस्तुओं के लिये प्रार्थना है। (१) जैसी वस्तुएं दयालु परमात्मा हमारे योग्य समझें, वह हमें दान दें। साथ हम भी अपने हृदय की कामना प्रकट करते हैं कि (२) पुत्र पौत्र, (३) पशु, (४) अन्नादि (५) ब्रह्मवर्चस् हम को प्राप्त हों। जब हम मन्त्र उच्चारण

---

* अङ्गों में रहने के कारण अग्नि का यह नाम है या अङ्गों का सूर्यरूप से पोषण करने वाला होने से, अग्नि को अङ्गिरः कहागया है।

धीरे धीरे करें, तो प्रथम वार प्रथम याचना पर बल पूर्वक चिन्तन करें, अपनी इच्छा शक्ति को उस पर केन्द्रित करदें, तो वह वस्तु प्राप्त हो सकेगी। ऐसे ही दूसरी वार मन्त्र पढ़ते हुवे २य याचना पर इच्छा शक्ति लगावें, इसी प्रकार ही अन्य वारियों में समझ लेना चाहिये। क्योंकि इस मन्त्र के भाव अत्युत्तम हैं, इस कारण यही मन्त्र पांच वार रक्खा गया है।

तत्पश्चात् वेदी के पूर्व से चारों दिशाओं में चारों ओर अञ्जलि में जल लेके छिड़कना चाहिये, एक २ मन्त्र से एक २ दिशा में जल डालें।

८ म मंत्र (क)

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व। इस मन्त्र से पूर्व दिशा में अदितिरिति पदनामसु पठितम्। निघ० ५। ५ अदितिरिति पृथिवी नामसु पठितम्। १। १ इस शब्द के अर्थ ज्ञानस्वरूप, अविनाशी, पर-

मात्मा के ग्रहण किये जाते हैं, इस के अर्थ पृथिवी तथा आकाश भी हैं।

अदितिः—यज्ञस्यानुष्ठाता यजमानः, यज्ञस्यज्ञाता पालकार्थो गृह्यते।

अदिति के अर्थ यजमान के भी हैं और फिर उस परमेश्वर के भी जो हमारे किये हुवे यज्ञों को जानने वाला है और जो हमारा पालक पोषक है। जैसा प्रकरण हो उस के अनुकूल अर्थ ग्रहण करने चाहियें। यहां सब से अन्तिम अर्थ में-यज्ञों के जानने वाला तथा पोषक ईश, अदिति शब्द लेना चाहिये। वस्तुतः अब यज्ञ आरम्भ होता है इस में सुमति सुबोध की याचना हम ज्ञानवान् प्रभु से करते हैं, ताकि कोई अशुद्धि हवन करते समय हम से न हो। विधि पूर्वक निर्विघ्न हम हवन कर सकें। इस कारण ही यह याचना अगले दो मन्त्रों में भी की है।

८ म मंत्र (ख) (ग)

ओं अनुमते ऽनुमन्यस्व। इस से पश्चिम दिशा में,

ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व । इस से उत्तर दिशा में, वह परमात्मन् जो अनुमति है अर्थात् जो बुद्धिरूप ज्ञानमय है, जिस ने वेदों की सत्य शिक्षा मनुष्यों को दी और अपने प्रियों की बुद्धि उन वेदों के पढ़ने में लगाता है—वह स्वामी हमें शुभ बुद्धि दे ।

वह प्रथम माता जिसे जगदम्बा कहते हैं, जो हमारी जनित्री है वही सरस्वती है, वह बहु प्रकार से वेदादि सत्य शास्त्र के देने वाली, प्रकाशित विज्ञान तथा सत् क्रियाओं में हम मनुष्यों को लगाने वाली, वेदों के अर्थ तथा अच्छी शिक्षा देने वाली दयालु माता है वह हमें सुबुद्धि देवे ।

८म मन्त्र (घ)

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं
भगाय दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः
पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ *

* इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कना चाहिये ।

(देव) देवों के देव, सर्व सुखदाता, सूर्य्य चन्द्र आदि से लेकर अदृश्य जीवों पर्य्यन्त सारे संसार में क्रीड़ा करने हारे; (सविता:) चराचर जगदुत्पादक, संपूर्ण ऐश्वर्य्ययुक्त तथा सकल ऐश्वर्य्य के दाता, (प्रसुव यज्ञं) भली प्रकार यज्ञ की वृद्धि करो।

प्रथम यज्ञ के अर्थ जानने चाहियें।

(१) इस लोक और परलोक के सुख के लिये विद्या ज्ञान और धर्म के सेवन से जो बड़े २ विद्वान् हैं उन का सत्कार करना यज्ञ है। (२) पदार्थों के गुणों के मेल और विरोध के ज्ञान से विविध प्रकार की विद्याओं का प्रकाश करना यज्ञ है। (३) विद्वानों का नित्य समागम करना और विना लोभ के सत्य-विद्या, धर्म तथा सुखों का दान देना भी यज्ञ है। सर्व प्रकार के विज्ञान तथा शिल्प का पढ़ना पढ़ाना, उन के परिणामों को तजरुबे करके सिद्ध करना, अग्निहोत्र से लेकर राज्य पर्य्यन्त सब व्यवहार, स्त्री पुरुषों के वर्तने योग्य गृहाश्रम व्यवहार, यह सब यज्ञ

कहलाते हैं। यज्ञ के अर्थ स्पष्ट करने में यजुर्वेद के अध्याय का २३ मन्त्र अत्युत्तम है।

यदि उपरोक्त यज्ञ बढ़ें, तो पारस्परिक सुख, विद्या, रक्षा, बल, धन, उन्नत होते जावें और परोपकारार्थ लोभ, मोह, अहंकार, ईर्षा, द्वेषादि तामसिकगुणों को सदैव क्रमशः मनुष्य नाश करदें। इस कारण ऐसे २ यज्ञ करने वाले उत्तम पुरुषों की आवश्यकता है इसी लिये सविनय परमात्मा से प्रार्थना की जाती है कि (प्रसुव यज्ञपतिं) ऐसे यज्ञ करने वाले सुखदायक व्यवहार के रक्षक जन भी उत्पन्न करिये अर्थात् हम जो अग्निहोत्र करने वाले हैं, हम में ऐसे यज्ञ करने की पवित्र इच्छा उत्पन्न करिये और शारीरिक आरोग्यता को प्राप्त करा चक्रवर्त्ती राज्य, लक्ष्मी तथा स्वतन्त्रता को प्राप्त कराइये।

(भगाय) ताकि हम ऐश्वर्य्य युक्त धन धारण कर सकें, व पवित्रता को अपने जीवन से संघटित कर सकें। (दिव्यः) हे दिव्य गुण युक्त प्रभो! (गन्धर्वः)

गन्धयुक्त पृथिवी और उस के सब पदार्थों के धारण-कर्ता स्वामिन् (केतपूः) आप स्वयम् बुद्धि को विमल करने वाले हैं, आप प्रज्ञान स्वरूप हैं अतः (वः) हम दीन यज्ञ करने वालों की (केतम्) बुद्धि भी (पुनातु) शुद्ध पवित्र करिये (वाचस्पतिः) आप वाणी वेद की भगवती कल्याणी वाणी के मालिक हैं (नः) हमारी (वाचं) वाणी को भी पवित्र करिये, ताकि जब हम वेद मन्त्र पढ़ें, तो वह शुद्ध, स्पष्ट, सुरीली, रसीली, कोमल, मधुर प्रकट हो।

पाठकगण ! यज्ञ के आरम्भ में ऐसी उत्तम प्रार्थना की आवश्यकता, तब प्रतीत होती है जब कि आधुनिक संसार पर एक दृष्टि डाली जावे। कैसे प्रभु से भयभीत न होने वाले, मूढ़, निर्लज्ज, कुटिल, विलासविषयी, छली, कपटी, दम्भी, अभिमानी, निर्दयी दुष्ट इस पृथिवी को कलङ्कित कर रहे हैं ? इन सब को सुपथ पर लाने के लिये और अपने दोषों को दूर करने के लिये यह प्रार्थना अत्यन्त उत्तम है :

अब चार मन्त्रों की व्याख्या की जावेगी, जिन को पढ़कर केवल घी की आहुति देनी चाहिये। पहिले मंत्र सेकुण्ड के उत्तर भाग में, दूसरे मंत्र से दक्षिण भाग में और तीसरे चौथे मंत्र से कुण्ड के मध्य में आहुति देनी चाहिये।

१म मंत्र

ओं अग्नये स्वाहा। इदमग्नये इदन्नमम।

(क) अग्निस्वरूप परमात्मा के लिये यह आहुति है। यह आहुति उसी ज्योतिर्मय ईश की है मेरी नहीं।

(ख) अग्निस्वरूप परमात्मा को मैं सद्वद् वाणी से याद करूंगा, ऐसा संकल्प करो। अग्नि से प्रयोग लेने के लिये सत्यवाणी और प्रियाचरणयुक्तविद्या मनुष्यों को प्रयुक्त करनी चाहिये अर्थात् अग्नि (heat) शास्त्र को उन्नत करना चाहिये।

ओं सोमाय स्वाहा। इदं सोमाय इदन्नमम।

(क) चन्द्र के तुल्य शान्ति, कान्ति, आनन्दादि गुणों के धारण करने वाले और उन के देने वाले, सब पदार्थों के बनाने वाले, पदार्थ विद्याओं में बुद्धिप्रेरक, सन्मार्ग पर चलाने वाले, सकलैश्वर्य के दाता, योगविद्या से सिद्ध ऐश्वर्य के दाता, सोमादि ओषधियों के उत्पन्न करने हारे, तथा सर्वरोगनाशक जगदीश्वर के लिये यह आहुति देता हूं। यह उसी आनन्दघन सर्वेश की है मेरी नहीं।

(ख) ओषधियों के ज्ञान के लिये वैद्यक की पुरुषार्थ युक्त विद्या मनुष्यों को उपलब्ध करनी चाहिये, ऐसी शिक्षा भी साथ परमात्मा ने दी है।

ओं प्रजापतये स्वाहा। इदम् प्रजापतये इदन्नमम

(क) सकल संसार के उत्पन्न कर्ता, चराचर जगत् के आत्मा के लिये यह आहुति देता हूं।

(ख) "प्रजानाम् पतिः पालन हेतुः सूर्य्यः" संसार को जीवित रखने और पालने का कारण सूर्य्य है, अतः प्रजापति के अर्थ यहां सूर्य्य के लेते हुवे, मन्त्र के अर्थ यह

होंगे, कि सूर्यादि लोकों को जानने के लिये ज्योतिष विद्या और पदार्थविद्या का प्रचार करना चाहिये।

ओं इन्द्राय स्वाहा। इदमिन्द्राय इदन्नमम।

(क) परमैश्वर्ययुक्त ईश, जो विद्या प्रकाशक, अविद्या तथा सब दुःखों के नाशक, शत्रु विदारक, ऐश्वर्यवर्द्धक, तथा चक्रवर्ति राज्य के दाता हैं उन को यह चौथी आहुति देता हूं।

(ख) इन्द्र, विद्युत् और इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मा का नाम है; अतः यहां दोनों अर्थ लेने चाहियें।

विद्युत् से प्रयोग लेने के लिये मनुष्य विद्युत्-शास्त्र को उन्नत करें और जीवात्मा के तत्वों के जांचने के लिये अध्यात्मविद्या (Metaphysics) को खूब बढ़ावें।

चार प्रकार की ज्योति संसार में पाई जाती है। (१) दो वस्तुओं के संघर्षण या रगड़ से उत्पन्न होने वाली भौतिक अग्नि।

(२) सूर्यादि स्वतः प्रकाश युक्त लोक तथा अन्य और वस्तुवें-जुग्नु, बूटियां, समुद्र के कीड़े।

(३) स्वतः प्रकाशक पदार्थों से ज्योति लेकर प्रकाशित होने वाले चंद्रमा आदि लोक।

(४) विद्युत् की ज्योति।

इन चार ज्योतियों का वर्णन उपरोक्त चार मन्त्रों में किया गया है और मनुष्यों को कृपानिधि परमात्मा उपदेश देते हैं कि उन को जानने तथा उपयुक्त करने के लिये, तुम यथायोग्य उपाय करो। नक्षत्रविद्यायें निकालो और उन से लाभ उठाकर सुखी होवो। प्रति दिन दोवार परमेश्वर के उस उपदेश को सुनते हुए यदि उत्तरोत्तर उत्साह न बढ़े, तो हम बड़े मूर्ख होंगे, अतः देखना चाहिये कि हमारी जाति और हमने इन विद्याओं के बढ़ाने अथवा शिल्प, व्यापार तथा कृषि में प्रति दिन वृद्धि की व न? भारतवर्षीय जो १५ या अधिक से अधिक ३० रुपये प्रतिजन वार्षिक आय रखते हुए भीषण अजगर रूपी

दरिद्रता के मुख में पड़े पीड़ित हो रहे हैं, वह उस उपदेश के अनुसार कर्म करते हुए शीघ्र आपत्तियों का नाश कर सकते हैं और पूर्ववत् शक्तिशाली बन सकते हैं। प्रत्येक को समझ कर अग्निहोत्र करने से कोटिशः लाभ होसकते हैं, परन्तु लोग उस के महत्व को भूल मुख मोड़े हुए पड़े हैं। परमेश्वर की कृपा से आज कल हमारे शासनकर्त्ता उपरोक्त सब विद्याओं में चतुर हैं और इन्हीं विद्याओं से सारे पश्चिमीय लोग उन्नति के शिखर पर पहुंच रहे हैं। आजकल राज्यशान्ति, विद्या, तथा निष्पक्षपातता का लाभ उठाकर प्रतिदिन वृद्धि करनी चाहिये।

प्रातःकाल हवि डालने के ४ मंत्र

मन्त्र १०

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥

(सूर्य्यः) चराचर, सकल संसार का आत्मा, सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक परमेश्वर (ज्योतिर्ज्योतिः) चमकने वाले लोकों का भी प्रकाशक है (सूर्य्यः) वह सब के भीतर स्थित हुआ २ प्राण-जीवन का हेतु हो रहा

है। ऐसे परमात्मा की आज्ञा पालन करके सारे जगत् के उपकारार्थ यह एक आहुति देता हूं।

(२) जो सब जगत का आत्मा परमेश्वर है, वह सब की आत्माओं में प्रकाश वा ज्ञान तथा सब विद्याओं का उपदेश देता है। जो सूर्य्य अपने प्रकाश द्वारा सर्व क्रियाओं का हेतु है और मूर्तिमान् द्रव्यों का प्रकाशक तथा हमारी आहुतियों को लाभदायक बनाने वाला है उसे यह आहुति देता हूं।

(३) प्रातः काल के समय जब अन्धकार के बादलों को फाड़ कर सूर्य्य निकलता है, तो यह चमत्कार, प्रकाश, ज्योति किस की होती है? सूर्य्य की, अतः मन्त्र कहा है :—सूर्य्य प्रकाश है और प्रकाश सूर्य्य से उत्पन्न होता है।

मन्त्र ११

सूर्य्यो वर्चो ज्योतिर् वर्चः स्वाहा

(क) (सूर्य्यः) तेजोमय परमेश्वर (वर्चः) विद्या, विज्ञान, प्रकाश के देने वाला है। (ज्योतिः) जैसे सूर्य्य का प्रकाश एक स्थान पर नहीं रहता,

सर्वत्र फैल जाता है वैसे परमेश्वर (वर्चः) ब्रह्म तेज देने वाली विद्याओं का प्रचार हम से कराने वाला हो ।

(ख) (सूर्यो वर्चः) सूर्य शारीरिक तथा आत्मिक बल के प्रकाश करने वाला है और विद्या के प्रकाश करने वाले ज्ञान को कहलाता है । (ज्योति वर्चः) प्रकाश स्वरूप जगदीश्वर यथाविधि हवन किये हुवे पदार्थों को अपने रचे हुवे पदार्थों में अपनी शक्ति से सर्वत्र फैलाने और तेज देने वाला हो ।

(ग) सूर्य नामी परमेश्वर तेज का देने हारा है । जो शारीरिक ज्योति ब्रह्मचारियों के चेहरे पर होती है वह (वर्चः) ब्रह्मज्ञान से उत्पन्न होती है अतः (वर्चोदा अग्ने वर्चो मे देहि) वर्चस् देने वाला ईश हमें ब्रह्म तथा तेज देवे ।

मन्त्र १०

ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा

(ज्योतिः) जो ईश स्वयम् प्रकाशमय है

(सूर्यः) और सारे जगत् में प्रकाश करने वाला है (सूर्यः) और सकल संसार का ईश्वर है (ज्योतिः) और प्रकाश तथा ऐश्वर्य्य का देने वाला है, ऐसे अद्वितीय ब्रह्म की प्रसन्नता के लिये हम होम करते हैं।

(क) उपरोक्त तीन मन्त्रों का परस्पर सम्बन्ध

पहिले और तीसरे मन्त्र के शब्द समान हैं, परन्तु क्रम में भेद है, कारण यह कि जिन गुणों के वाची यह शब्द हैं परमात्मा के वह अत्यन्त उत्तम गुण हैं। जितना भी उन पर अधिक विचार किया जावे उतना थोड़ा है। रोचक बनाने के लिये शब्दक्रम भिन्न कहे जा सके हैं, परन्तु उन का आशय बड़ा गूढ़ है। पहिले मन्त्र में सूर्य्य शब्द ने दोनों ओर से ज्योति को घेरा हुआ है और तीसरे में ज्योति ने सूर्य्य को घेरा तथा छिपाया हुआ है। जब हम सूर्य्य लोक को देखें, तो ज्योति ही ज्योति दिखाई पड़ती है। वास्तविक सूर्य्य प्रकाश में छिपा होता है-इसी प्रकार यह संसार ही संसार दिखाई देता है, संसार को प्रकट

करने वाला सूर्य्य छिपा हुआ है, परन्तु वह ज्योति कहां से उत्पन्न होती है ? सूर्य्य तथा सूर्य्यरूपी परमात्मा से-इस कारण पहिले मन्त्र में सूर्य्य ने ज्योति को घेरा हुआ है। यही सूर्य्य बुद्धि-तेजोमय है वही सब विद्याओं का दाता है, ऐसा वर्णन करके दूसरे मन्त्र में बताया कि वही ज्योति वर्चस् के देने वाली है, फिर तीसरे में बताया कि वह वर्चस् अपने धारण करने वाले को छिपा लेता है, जैसे महात्माओं तथा महाराजों के मुखों की छवियां हो प्रजा देखती है, परन्तु मुखाकार नहीं देख सकी।

(ख) तीनों का सम्बन्ध यूं भी वर्णन कर सकते हैं। सूर्य्यस्वरूप परमात्मा की ज्योति उसी में अन्तर्गत या गुप्त होती है जिसे हम देख नहीं सकते। (प्रथममन्त्र) परंतु अब हमने यह अनुभव कर लिया कि वह परमात्मा ब्रह्मज्ञान के देने वाला और सूर्य्य लोक को भी तेज देने वाला है और उस को जानने के लिये ब्रह्मज्ञानी होना चाहिये (दूसरामन्त्र) तब परिणाम

यह होगा कि जिस ज्योति की तलाश में हम लोग हैं वह अपने आप को प्रकट कर देती है जैसे कि तीसरे मन्त्र में ज्योति सूर्य्य से दोनों और बाहिर निकली हुई है। सज्जन पाठको! इस प्रकार का उत्तम विचार इन मन्त्रों में है–दृढ़ता से इन पर विचार कर के ब्रह्मज्ञानी बनो।

मन्त्र. १३

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या
जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा।

(देवेन) प्रकाश डालने वाली (सवित्रा) ब्रह्म-बुद्धि से (उषसा + इन्द्रवत्या) सुन्दर ऐश्वर्य्य युक्त रंग बरंगी उषा के साथ (सजूः) मिला हुआ (सूर्य्यः) सूर्य्य लोक (सजूः) सर्वत्र समान (जुषाणः) सेवन करता हुआ या व्याप्त होकर हवन किये हुवे पदार्थों को आनन्द से (वेतु) देश देशान्तरों में पहुंचाने के लिये ग्रहण करे।

(१) पौ फटने से पूर्व का समय ब्रह्म मुहूर्त क-

हलाता है उस में बुद्धि प्रेरक ब्रह्म का ज्ञान हो सक्ता है, चूंकि सूर्य निकलने पर इस काल का अंत होता है अतः हम कह सकते हैं कि ब्रह्ममुहूर्त तथा सवित्री का वास सूर्य में है। शतपथ ब्राह्मणानुसार 'सवित्री' शब्द को मन्त्र में रखने का उद्देश्य यह है कि ब्रह्म बुद्धि यज्ञ करने से मिल सके।

(२) 'उषा' को अग्निहोत्र का काल दिखाने के लिये रक्खा गया और 'इन्द्र' शब्द सारे दिन में ऐश्वर्य्य प्राप्ति हो—इस कारण प्रयुक्त किया गया है।

सायंकाल हविः डालने के चार मन्त्र यह हैं:—

मन्त्र १४. अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा।
" १५. अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।
" १६. अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा।
" १७. सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा।

(१) चन्द्र तारा आदि ज्योतिः प्रकाश तथा ऐश्वर्य्य युक्त लोकों से युक्त रात्रि वाली अग्नि यह अर्थ इन शब्दों के लेने चाहियें।

सूर्य के स्थान पर अग्नि शब्द प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि सायंकाल सूर्य के अस्त होने पर यदि कोई ज्योति होती है, तो वह भौतिक अग्नि होती है जिसे मनुष्य अपनी बुद्धिद्वारा बनाता है, अग्नि के अर्थों की व्याख्या पूर्व की गई है; उसे लक्ष्य में रख कर पहिले चार मन्त्रों के अर्थ जैसे किये हैं वही इन चार मन्त्रों के जानने चाहियें।

जो मन्त्र आगे लिखे जाते हैं उन से प्रातः सायं हवन करना चाहिये।

मंत्र १८

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा। इदमग्नये प्राणाय इदन्नमम ॥

इस मंत्र के शब्द कई अर्थों के वाचक होने से मंत्र के कई अभिप्राय हो सक्ते हैं, जिन से भिन्न २ शिक्षा प्राप्त होती है।

(१) अग्नि और प्राण का नाम 'भूः' है। इन

को हविः देकर आनन्द पूर्वक बुलाता हूं वह सुख-दायी होवें।

(२) अग्नि स्वरूप परमात्मा प्राण है ("स प्राणस्य प्राणः") परमेश प्राणों का प्राण और प्राण से प्रिय है उसे हविः देता हूं।

(३) यह हविः उस अग्नि के लिये है जो हमारा प्राण है। जब अग्नि शरीर में कम हो जाता है, तो प्राण गुम हो जाते हैं, और उस का उलट भी ठीक है, क्योंकि जब तक शरीर में प्राण है तबतक शरीर चमकता है तो ऐसे अग्नि या प्राण के लिये हवि दी जाती है। चूंकि प्राण से अग्नि पैदा होता है इस कारण जितना शुद्ध, हवन मे सुगन्धित प्राण शरीर में जावेगा उतना शरीर निरोग रहेगा इस प्रकार उक्त हवन का लाभ इस मन्त्र में ज्ञात होता है।

मंत्र १०.

ओं भुवर्वायवे अपानाय स्वाहा। इदं वायवेऽ-पानाय, इदन्न मम ॥

(१) व्याहृतियों में 'भुवः' के वायु और अपान अर्थ हैं इन भौतिक देवों को यह आहुति देता हूं, ताकि वायु इस हवि को धारण करके मेरे शरीर की आरोग्यता के लिये मेरे अपान को शुद्ध और संसार में विस्तृत करे। यह आहुति इस वायु और अपान की है मेरी नहीं।

(२) जीवों के आहार को जो वायु नीचे ले जाता है और मूत्र तथा वीर्य को उठाता है वह वायु 'अपान' है। सहस्र प्रकार के रोग अपान शुद्ध न होने से उत्पन्न होते हैं उन की दूरी की प्रार्थना परमेश्वर जो सुखस्वरूप रोगनाशक (भुवः) है उस से की जाती है।

(३) यदि स्वाहा के अर्थ यहां प्राणायाम आदि के लिये जावें जैसा कि कई मंत्रों में आते हैं, तो यह उत्तम शिक्षा भी इसी वाक्य से मिलती है कि शरीर के रोगों को इन विधियों से दूर करना चाहिये।

(४) वह भुवः जो वायु तथा अपान है इन

दोनों के समान जो हमारे शरीर में से रोग, पाप तथा दुष्ट विचार दूर करने वाला बल दाता पिता है उसे नमस्कार हो।

मंत्र २०

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा। इदमादित्याय व्यानाय, इदन्न मम ॥

(१) व्याहृतियों में 'स्वः' के अर्थ सूर्य और व्यान के कहे हैं, इन भौतिक देवों को हमारी आहुति पहुंचे।

(२) जो परमात्मा सूर्य्य के समान प्रकाश करने वाले, तथा जीवों को धारण, पोषण करने वाले हैं वह हमारे व्यान को शुद्ध करें, क्योंकि वह स्वयम् भी व्यान हैं। जैसे शरीर में व्यान फैला होता है वैसे जगत्-स्वामी सारे जगत् में फैले हुवे हैं इस कारण यह आहुति उस परमात्मा के लिये देता हूं।

(३) सुखस्वरूप परमात्मा को नमस्कार हो। हम उस आदित्य को जो व्यान के समान है, आहुति

देते हैं। मानवी शरीर में जैसे व्यान रसों को सब अङ्गों में ले जाता और खून का गर्दिश देता है, वैसे सूर्य बादल बना संसार को रस देता है, वनस्पति बनाता है। आदित्य द्वारा ही अग्निहोत्र के बहुत से लाभ प्राप्त होते हैं, इस कारण उपरोक्त मन्त्र की आवश्यकता है।

मंत्र २१

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा। इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः, इदन्न मम ॥

पहिले तीन मन्त्रों का मिला हुआ यह मन्त्र है।

(१) सर्व प्रकार के प्रकाश, बल, कीर्ति तथा ऐश्वर्य के प्राप्त करने का उद्देश्य इस मन्त्र से सिद्ध होता है। अग्नि होत्री इस संसार में वीर्य, ऐश्वर्य, यश और कीर्ति में स्थिर होता हुवा पुनः ज्योतिमय द्युलोक में वास करे, ऐसी इच्छा प्रकट होती है।

(२) शरीर में जो पांच प्राण और पांच उप

प्राण हैं, संसार के जो तीन लोक, भूमि अन्तरिक्ष और द्यु, तथा तीन विद्यायें ऋक्, यजुः और साम हैं उन सब का अधिपति जो परमात्मा है, जो कि संसार और उस के पदार्थों से ही प्रकट होता है उस ईश की स्तुति और पूजा सब लोग करें ॥ अग्निहोत्री यदि पापरहित होगा तो शरीर तथा संसार में उसे मित्रता, आरोग्यता, बल, ओज तथा तेज दिखाई देंगे और इनकी वृद्धि प्रतिदिन होती जावेगी।

(३) यह हवि अग्नि वायु, आदित्य नामी परमेश्वर तथा भौतिक पदार्थोंकी मलकीयत है मेरी नहीं इन शब्दों से जैसा कि ऊपर कह आये हैं बड़ी आत्मत्यागता बढ़ती है, इस कारण विचार पूर्वक यह शब्द बोलने चाहियें।

मंत्र २२

ओं आपो ज्योति रसोऽमृतं ब्रह्मभूर्भुवः स्वरों स्वाहा॥

उपरोक्त नव नाम परमेश्वर के हैं, कुछ नामों की व्याख्या की गई है बाकी नामों के संक्षेप अर्थ लिखते हैं--

(आपः) नाम परमात्मा का है यह इस ऋचा से सिद्ध है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्र न्तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

(आपः) जल के समान सर्वत्र गामी, सर्वव्यापक, और शान्तिप्रदाता प्रभु आपः है। (रसः) जो प्रभु मन्युरूप होकर दुष्टों को दण्ड देने वाला, प्रत्येक पदार्थ में रसरूप हो कर वर्त्तमान्, चराचर जगत् का रसमय आधार और रोगनाशक परमेश्वर है उसे रसः कहते हैं।

(अमृतं) जो अजर, अमर, अविनाशी, शाश्वत, पुराण, अनादि, अक्षर, अजन्मा, नित्य शुद्ध-बुद्धस्वरूप, अनन्त, ध्रुव, अव्यय परमात्मा है यमराज जिस परमेश्वर का एक किंकर है और जो स्वामी अपने सुपुत्रों को मुक्ति देने वाला है वह प्रभु अमृत कहा जाता है।

(ब्रह्म) (वृह वृहि वृधौ) इस धातु से ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है, जो सब के ऊपर विराजमान सब से बड़ा अनन्त बल युक्त परमात्मा है उसे ब्रह्म

नाम से याद करते हैं। ऐसे शुद्ध गुण सम्पन्न परमेश को आहुति देते हैं वह इसे स्वीकार करें।

मंत्र२३

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥

(यां) जिस (मेधां) अनेक ग्रन्थों के धारण करने की शक्ति वाली, तत्काल बातों को ग्रहण करने वाली, शुभाशुभ का पूर्णतया विचार करने वाली बुद्धि को (देवगणाः) देव लोग तथा (पितरश्च) पितर लोग (उपासते) धारण करते हैं (तया मेधया) उस सात्विकी बुद्धि से (मामद्य) मुझ को आज (अग्ने) प्रकाश प्रदाता परमात्मन् ! (मेधाविनं) मेधायुक्त (कुरु) करिये।

मेधा मेधा तथा बुद्धि में यह भेद है कि बुद्धि सात्विक, राजसिक तथा तामसिक होसक्ती है, परन्तु मेधा केवल सात्विकी बुद्धि को ही कहते हैं पितरों तथा देवों की ऐसी बुद्धि होती है।

देवगणाः—देव शब्द दिवु धातु से बना है जिस के अर्थ यह हैं "क्रीड़ा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोदमद स्वप्न कान्ति गतिषु"।

देवगण उन महाशयों, महात्माओं और सज्जनों को कहते हैं (क्रीड़ा) जो अपने कर्तव्यों में आनन्द पूर्वक, इन्हें खेल न कि बोझ समझ कर, सर्वदा लगे रहें; (विजिगीषा) जो जन प्राणिमात्र को आत्मवत् देखते हुये—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।

परोपकार के इच्छुक हों, (व्यवहार) जो जन अन्य नर नारियों को कार्यों के भली भान्ति करने की विधियां सिखाते रहें; (द्युति) जो शारीरिक, मानसिक, आत्मिक बलों से युक्त होने के कारण साधु महात्मा, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, योगी, मुनि, तपस्वी कहलाते हैं। विद्या और योग के तेज से द्युतिमान् होते हैं और विशेषतया (गुहाहितंगह्वरेष्ठम् पुराणम्) जिन के हृदयों की गुफा में ज्योतिमय परमात्मा रहता

हुआ उन के सारे शरीर को प्रज्वलित और प्रकाशित करता है; (स्तुति) उपरोक्त प्रकार से जो विद्वान् परम् जितेन्द्रिय तथा धीर पुरुष हों, वह स्तुति करने योग्य देव होते हैं; (मोद) वह जन जो न केवल स्वयम् आनन्दित रहते हैं परन्तु अपने उत्तम २ व्यवहारों, सदाचारों, सुविचारों से अन्यों को भी मोदित करते रहते हैं। (मद) यह जन ज्ञान से तृप्त, लोभ, मोह, अहंकार, राग, द्वेषादि विषयों से रहित, शान्तिमय, निष्काम भाव, वा केवल शुद्ध इच्छाओं के करने वाले धीर त्रिकाल में परमात्मा के सच्चे प्रेम से मदोन्मत्त रहते हैं; (गति) जो लोग ब्रह्मनिष्ठ होने के कारण जानने योग्य हैं, जो जगद्रक्षक तथा पालक हैं और जिन्हें संसार के मनुष्य उत्साह पूर्वक ढूंढ कर प्राप्त करें—ऐसे निष्काम कर्म्मों के कर्त्ता, परोपकारनिष्ठ, विद्या की शान्ति से प्रकाशित, तेजस्वी, स्तुति तथा प्राप्ति के योग्य, आनन्दमय, आनन्दभुक, तथा ईश्वरप्रेम से मदोन्मत्त, पुरुषों को देव

कहते हैं। जिस शुक्र, शुद्ध, पवित्र निर्लेप बुद्धि को ऐसे महात्माजन धारण करते हैं उसी मेधा से ज्ञानस्वरूप, हितकारि परमपिता परमात्मा हमें भी सुशोभित करें—ऐसी प्रार्थना ऋचा में की गई है। विद्वान् सदाचारी देवों के गुणों को धारण करने से मनुष्य अपना कल्याण कर सक्ता है अन्यथा नहीं—यह हम प्रतिदिन के अनुभव से देखते हैं और यह बात उपनिषत्कारों ने वारंवार बताई है जैसे

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम् पथस्तत कवयो वदन्ति।

उठो जागो श्रेष्ठों को प्राप्त कर (आत्मा को) जानो- जन्म जन्मान्तर में सोते आये, इस जन्म में भी कुम्भकर्ण की न्याईं अविद्यारूपी घोर निद्रा में खूब सोते रहे हो, अब तो जागो। श्रोत्रिय, ब्रह्मवेत्ता सर्वोत्तम आचार्य्य की शरण लो, जो कितुम्हें अत्यन्त सूक्ष्म और कठिन ज्ञानरूपी मार्ग दिखावें। क्योंकि जैसे छुरे की धार अत्यन्त तीक्ष्ण

होती और दुःख से भी उस पर चलना कठिन है वैसे ज्ञानमार्ग पर चलना ज्ञानवान्, मेधावी, वेद-वेत्ता, शान्तात्मा, सूक्ष्मबुद्धि आचार्य्य लोग कठिन कहते हैं।

इस वेदाज्ञा तथा प्रतिदिन के अनुभव को लोग भूल जाते हैं, इस कारण वह अत्यन्त गिरते जा रहे हैं। यदि अग्निहोत्र करते हुये वह शुद्धबुद्धि ब्रह्मपरा-यण, आत्मज्ञानी, विशुद्धमन्त्र आचार्य्यों को प्राप्त हों, तो कितना सुख और आनन्द उपलब्ध हो सकता है

देव शब्द की व्याख्या समाप्त हो जाने पर पितर शब्द के संक्षिप्त अर्थ बताते हैं। शतपथ ब्राह्मण में पितर निम्न लिखित मनुष्यों को कहा हैः—

ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्।
अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्।
बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्।
सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्।........ ... .

सोमसद्—पितर वह मनुष्य हैं जो ऐहलौकिक और पारलौकिक विद्याओं में निपुण हों। विशेषतया जो महाशय पदार्थविद्या, रसायण, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, शरीरविद्या, वृक्षादिवनस्पत्यादि के ज्ञाता हों, जैसे शुश्रुत, चरक, कणाद, कपिल, गौतमादि।

अग्निष्वात—जो अग्नि तथा विद्युदादि पदार्थों के ज्ञाता और उन के सिद्धान्तों के प्रयोगकर्त्ता हों। विद्युत और वाष्प ने इस संसार में जो चमत्कृत परिवर्तन कर दिये वह किन के द्वारा? वह उन पितरों के द्वारा, जिन्होंने परोपकारार्थ सहस्र प्रकार के कष्ट उठाकर अद्भुत अन्वेषण किये हैं परमात्मा कृपा करें कि हम ऐसी कुशलता रखने वाले पितर बन सकें।

बर्हिषदः—जो महाशय विद्यावृद्धियुक्त उत्तम व्यवहारों में स्थित हों—वह बर्हिषद् पितर हैं—जैसे विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, सनत्कुमार, बुद्ध, दयानन्द।

सोमपा—जो ऐश्वर्य्ययुक्त, रोग रहित होते हुए

अन्यों के रोगों के निवारण करने में तत्पर हों, जैसे धन्वन्तरी, वाग्भट्ट, शुश्रुत, चर्क।

हविर्भुज + आज़्यपा —जो मादक तथा मांस से रहित सात्विक भोजन करने वाले महापुरुष हैं। आज कल उक्त प्रकार के पुण्यात्मा उंगलियों पर गिने जा सकते हैं और प्रत्येक समय म्लेच्छ जाति की हस्ति रही है अतः इस प्रकार की सात्विकी बुद्धि का मांगना आवश्यक है और ऐसे महानुभावियों को पितरों का पद देना कोई अत्युक्ति नहीं भगवद्गीता में सात्विक भोजन का लक्षण इस प्रकार किया है:—

> आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
> रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विक प्रियाः॥

जो भोजन आयु, होशियारी, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति के बढ़ाने वाले हों दूध मधुरादि

रस युक्त, स्निग्ध, बहुत काल तक रहने वाले, हृदय के बढ़ाने वाले ऐसे आहार सात्त्विक जनों को प्रिय होते हैं।

सुकालीन–जिन महाशयों का समय व्यर्थ नहीं जाता परञ्च जीवन पर्यन्त जिन का काल सुविचारों और शुभाचारों के धारण करने तथा कराने और सुशब्दों के सुनने और सुनाने में व्यतीत हो वह भी पितर कहलाते हैं। वस्तुतः पुरातन आर्य धर्मपरायण महापुरुषो का सन्मान करके उन्नति के शिखर पर पहुंचे थे।

यम–जो जन निष्पक्षपात तथा निर्भयता से दुष्टों को दण्ड देनेहारे और श्रेष्ठों का पालन करने हारे हों।

परित्राणाय च साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्

श्रीकृष्ण योगिराज के समान जिन का समय व्यतीत हो।

मन्युरसि मन्युं मयि धेहि

व जो मनुष्य वेद भगवान् के कथनानुसार आचार करने वाले हैं वह पितर कहलाने योग्य हैं।

इन के अतिरिक्त पिता, पितामह, प्रपितामह माता, मातामही, प्रमातामही, ज्येष्ठ भ्राता तथा भग्नि, गुरु, आचार्य्य भी पितर हैं और उन की शुद्ध बुद्धि का ग्रहण करना आवश्यक है।

यान्यनवद्यानि कर्म्माणि तानि सेवितव्या-
नि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि
तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

उस ऋचा की अद्भुत रचना देखो—परमात्मा का वहां विशेष गुण वाचक नाम अग्नि रखा है न कि वायु, शिव, बृहस्पति। इस भूमण्डल की सब जातियों ने सर्वदा अविद्या का नाश अन्धकार से और विज्ञान का ज्योति में बताया है। स्वयम् वेद कहते हैं।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति यऽविद्यामुपासते

हम मेधा नामी प्रकाशयुक्त पवित्र बुद्धि की याचना सर्वेश से करते हैं, अतः उसके प्रकाशस्वरूप पर यदि विचार करें, तो मिल सकी है। और जैसे प्रकाश के इच्छुक होते हुवे चक्षुओं को खोलना चाहिये, न कि कान खड़े करने चाहियें वैसे इस ऋचा में परमात्मा के सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, शान्ति, मंगल तथा सुख-स्वरूपों पर विचार करने से विशेष लाभ न होता। अग्निस्वरूप पर ध्यान देने से प्रकाशप्राप्ति हो सक्ती है। विशेषतया जब प्रकाशस्वरूप परमात्मा पिता हों, तो वह पितावत् दयालु, हितकारी होकर अपने सुपुत्रों को मेधा का दान देंगे-ऐसा निश्चय इस मन्त्र से होता है।

मंत्र २४

ओं अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं
तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि
स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्नमम ॥ ओं वायो

व्रतपते[1]...... स्वाहा ॥ इदम् वायवे-इदन्नमम ॥२५॥ ओं सूर्य व्रतपते...... स्वाहा ॥ इदं सूर्याय-इदन्नमम ॥ २६ ॥ ओं चन्द्र व्रतपते...... स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय इदन्नमम ॥ २७ ॥ ओं व्रतानां व्रतपते...... स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय व्रतपतये—इदन्नमम ॥ २८ ॥

(अग्ने) हे सत्य उपदेश के प्रकाशकर्त्ता ज्योतिस्वरूप प्रभो ! (व्रतपते) आप सत्यभाषण आदि धर्मों के पालन कराने हारे हैं । (व्रतंचरिष्यामि) मैं व्रत धारण किये हुवे हूं आप के चरणकमलों में व्रत धारण करने वाले के स्वरूप में मैं उपस्थित होता हूं, पितारूप से आप ने मुझपर जो कृपा करनी हो, उससे कृतार्थ करिये ।

वह व्रत कैसा है ? एवम्

---

(१) जो शब्द पूर्व मन्त्र में "व्रतपते" से आगे हैं, वह सब बोल कर मन्त्र समाप्त कर आहुति देनी चाहिये ।

(अनृतात्) असत्य कर्म, विचार, तथा भाषण को त्याग (अहम्) मैं (मन्गं) सत्य धर्मयुक्त विचार, व्यवहार, भाषण का (उपैमि) उनुष्ठान करता हूं--अर्थात् सत्य की भली भांति परीक्षा कर उस के ग्रहण करने में कभी विलम्ब न करूंगा। और कदापि लोक लज्जा से मैं असत्याचरण में लिप्त न रहूंगा। (तच्छकेयम्) अपनी ज़िम्मेवारी को समझता हुआ सत्यव्रत को पुरुषार्थ से पालन करने की शक्ति का संचय करूं। (तत् मे राध्यताम्) परन्तु हे बलदाता प्रभो ! आप भी मुझ पर कृपा करके इस व्रत को भली प्रकार सिद्ध कराइये।

उपरोक्त पांच मन्त्र अत्युत्तम और सारगर्भित हैं—इस में व्रत धारण करने और सत्य बोलने की शक्ति परमात्मा से मांगी है। उपवास करने और भोजन में कतिपय पदार्थों का त्याग करने से ही मुक्ति नहीं होती। परन्तु सत्यनिष्ठ और धर्मपरायण होने से मुक्ति की प्राप्ति सम्भव हो सक्ती है। इन कर्म्मों के करने में कई सहस्र

प्रकार के कष्ट होते हैं। मनुष्य इन दुःखों को न सह कर भयभीत हो, धीरता त्याग निरुत्साही बन कर अपने संकल्पों से गिर जाता है। एक वार व्रत से च्युत होने के कारण उस की धारणा शक्ति ढीली पड़ जाती है। दूसरी वार तोड़ने का साहस हो जाता है, परिणाम यह होता है कि मनुष्य किसी व्रत का पालन नहीं कर सक्ता, परन्तु व्रत तोड़ने का बुरा संकल्प ज्यूं ही उत्पन्न हो, यदि उसी क्षण प्रकाश स्वरूप; वायु के समान सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी; आदित्य के समान जीवों को देखने के लिये चक्षु देने वाले, चराचर के आत्मा, अन्नादि से जीवों के पालक; चन्द्रमा की न्याईं अविद्यारूपी रात्रि के समय भूले भटकों को सुपथ पर चलाने वाले; और सन्तों की न्याईं व्रत धारण कराने वाले परमात्मा का ध्यान आजावे, तो कदापि उस व्रत को तोड़ने का उत्साह न हो। जब परमेश्वर की सत्ता का ख़याल और लोक लज्जा मन में नहीं होती, तभी पाप करने का साहस

होता है, परन्तु जब हम विश्वास पूर्वक अपने स्वामी को (सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः) सहस्रों आंखों वाला, (तद्दूरे तद्वन्तिके) सब के अन्दर और बाहिर व्यापक होनेवाला, (अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति) और हृदय में अंगुष्ठ मात्र होकर निवास करने वाला जानने लगें, तो कैसे पाप कर सक्के हैं? जब स्वयम् राजाओं के राजा, राजेश्वरों को भी दण्ड देने हारे न्यायशील सम्राट् हमारे कर्मों को देख रहे हों, तो कुकर्म कौन कर सक्ता है? यह सर्वज्ञान सम्पन्न राजा सर्वत्र व्यापक और न्याय कर्ता है किसी से रिश्वत नहीं लेता और नाही किसी का पक्ष पाती है। आर्य्य नर नारियो! उपरोक्त पांच मन्त्रों में परमात्मा के इन गुणों पर बल दिया गया है—ऐसे परमेश्वर का भय करते हुवे, शुभ व्रत धारण करो और प्रातः सायं व्रत पालन करने का बल उस दयालु पिता से मांगो निस्सन्देह तुम में क्रमशः शक्ति बढ़ती आवेगी। यदि पश्चिमीय जातियों की उन्नति तथा कलकार्यता

का और भारतनिवासियों की आधुनिक अधोगति का एक शब्द में रहस्य पूछा जावे, तो वह पश्चिमियों का नियम बद्ध काम करना और पतित आर्य्यों का अनियम में मस्त रहना है। अतः उन्नति तथा धर्म के इच्छुक आर्य्यजन! वेद की आज्ञानुसार जब तुम लोग व्रत धारण करोगे तथा नियम बद्ध रहोगे, तभी तुम्हारा कल्याण होगा अन्यथा नहीं।

मन्त्र २९

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव
यद्भद्रं तन्न आसुव स्वाहा ॥

(देव) हे सकलैश्वर्य्ययुक्त देव। (सवितः) पूर्ण जगदुत्पादक। (विश्वानि, दुरितानि) सब क्लेशदायक घटनाओं को (परासुव) हम से परे रखिये। (यत्) जो घटनाएं (नः) हमारे लिये (भद्रं) कल्याणकारी, शुभ, सुखदायक, मङ्गलमय होवें (तत्) वह (आसुव) हमारे पास लाइये। (स्वाहा)

अहो !! कैसा हर्ष है कि हमारे कृपासागर पिता ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया है।

भाव—इस मन्त्र से पूर्व जो जो प्रार्थना परमात्मा से करनी थी कर चुके हैं, परन्तु हम मनुष्य अल्पबुद्धि, अदूरदर्शी तथा स्वशुभाशुभ को भली भांति न जानने वाले परञ्च शीघ्र प्राप्त होने वाली और वर्तमान काल में ही सुख देने वाली वस्तुओं को ढूंढने वाले हैं। वस्तुतः भला किस पदार्थ में है—इस का कमज्ञान है, परन्तु परमात्मा सविता पिता है वही बन्धु, जनिता और वही विधाता है। उसी पर विश्वास करना चाहिये कि जो हमारी हितकारी मङ्गलकारी वस्तुएं होंगी, वह स्वयं पुत्रों को प्रदान करेगा। हमें वस्तुओं के नाम लेकर मांगने की आवश्यकता नहीं। पूर्ण श्रद्धा तथा विश्वास हो कि:—

Whatever He gives, He gives the best,

जो कुछ प्रभु देते हैं वह सुखकारी होता है। ऐसा जान कर हमें सन्तुष्ट रहना चाहिये और उसी

विश्वास से 'स्वाहा' शब्द निकाल कर गद् गद् हृदय होना चाहिये अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करते हुए, फल की प्राप्ति परमात्मा की इच्छा पर त्याग, जीवन व्यतीत करना चाहिये।

मन्त्र ३०

ओं अग्ने नय सुपथा राये ऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम स्वाहा।

(अग्ने) हे अग्निस्वरूप, ज्योतिष्मन् परमेश्वर! (देव) हृदयों में प्रकाश करने हारे, सुख तथा शुद्ध बुद्धि के दाता, शुभ कर्मों में अपने उपासकों को लगाने वाले, (नय सुपथा) हमें सुखदायक पथ (Path) से ले जाइये-शुभ कर्मों के करने की ही हमें शक्ति दीजिये। (राये) ताकि हम सार्वभौम राज्याधिपति, सर्वानन्दभुक्, अनन्त धनों युक्त, सकलैश्वर्य्य के धारणकर्त्ता हों और सम्पूर्ण प्रज्ञान

विज्ञान को प्राप्त कर सकें। (विश्वानि वयुनानि) आप हमारे सर्व कर्मों को (विद्वान्) जानने हारे हैं। अतः हम बुरे कर्म करके आप से छिप नहीं सकते। (युयोधि) नाश कीजिये (अस्मत्) हमारे (जुहुराणम्) कुटिल (एनो: एनस्) पापाचरणों को। (भूयिष्ठाम्) आनन्द पूर्वक, प्रेम भरी, अनेकानेक, बार बार (ते) आप स्वामी को (नमः) प्रार्थना नमस्कार पूजा (उक्तिं) स्तुति (विधेम) करें (स्वाहा) सत्य कल्याणी वेद वाणी द्वारा।

भाव—जैसे पूर्व मन्त्र में कहा गया था कि "दुरितानि परासुव" दुःखों, दुर्घटनाओं विपत्तियों को दूर करिये, वैसे इस मन्त्र में प्रार्थना है कि सर्वान्तर्यामी होकर परमेश्वर हमारे सब विचारों, चेष्टाओं और कर्मों को देख रहे हैं, और वह स्वयम् खूब जानते हैं कि हमारे खोटे कुटिल कर्म कौनसे हैं। हमें पूरा ज्ञान नहीं हो सकता, अतः वह स्वयं उन्हें भस्म करें। यह भी अभिप्राय है कि जो प्रार्थनाएं तथा कर्म हम ने करने

थे, वह कर चुके और करते रहेंगे, परन्तु जब इस शरीर को हम त्यागें, तो न्यायकारी दयालु परमात्मा शुभ योनियों में ले जावें और यदि हम मुक्ति के भागी हों, तो हमें देवयान पर ले जावें।

मन्त्र ३१

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् स्वाहा ॥

"भूर्भुवः स्वः" की व्याख्या पूर्व कर चुके हैं। (सवितुः) जो परमात्मा सर्वजगत् का उत्पादक और सर्व ऐश्वर्य्य का दाता है। (देवस्य) जो दिव्यस्वरूप, सुखदाता, जिस की प्राप्ति की कामना सब मनुष्य करते हैं—ऐसे पूज्यपाद प्रभु की, जो साथ ही (वरेण्यम्) स्वीकार करने योग्य अतिश्रेष्ठ है (भर्गः) जो यश का दाता, शुद्धस्वरूप और पुत्रों को पवित्रता देने हारा है—ऐसे ईश की (धीमहि) स्तुति करें—उस का ध्यान व धारणा करें- (यः) वह दयालु देव (नः) हमारी

(बुद्धिः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) बुरे कामों से छुड़ा कर अच्छे कामों में प्रवृत्त करें ।

यह गायत्री, सावित्री वा गुरु मन्त्र है। बुद्धि ही मनुष्यों को पशुओं से भिन्न करती है, सभ्यों को असभ्यों से पृथक् करती है और इसी मेधा के द्वारा नर नारी परमेश्वर रचित इस संसार को भली भांति जानते हुवे, ईश को अनुभव कर सक्के हैं और फ़िर उस के परम धाम की प्राप्ति कर सक्के हैं, इस कारण बुद्धि प्राप्ति की याचना परमावश्यक है। "यां मेधां" वाले मन्त्र में इस की विस्तृत व्याख्या पर्य्याप्त है।

मन्त्र ३२.

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च स्वाहा ॥

(शम्भवाय) सुखस्वरूप सुखदायक परमात्मा के लिये (नमः) नमस्कार हो और (मयोभवायच) सत्य, सुख, मुक्ति के हेतु प्रभु को फ़िर नमस्कार

हो । (शंकराय च) कल्याण करने हारे (मयस्क-राय च) सब प्राणियों को सुख पहुंचाने हारे, आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को नमस्कार हो। (शिवाय च) मङ्गल कारी और (शिवतरायच) अत्यन्त मङ्गल स्वरूप अमृत शान्ति प्रदाता स्वामी को (नमः) बार बार अत्यन्त नम्रता पूर्वक नमस्कार हो ।

प्रत्येक जीव सुख, आनन्द, कुशल, कल्याण, मङ्गल, हर्ष की कामना सर्वदा करता है यह शुभकर्मों से प्राप्त हो सक्ते हैं। अग्नीहोत्री आहुतियां देकर एक शुभकर्म समाप्त करने वाला है वह सुख और शान्ति का इच्छुक है। अतः कल्याणनिधि, सुख-सागर, मंगलमय, कुशलभण्डार परमात्मा का स्वरूप सामने लाना चाहिये। शुद्ध तथा दृढ़ कामना की हुई सुफल होती है, सो सर्वदा करनी चाहिये।

मन्त्र ३२

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

(पूर्णम् अदः) वह अखण्ड, निर्दोष, अपापविद्ध, शुक्र, शुद्ध, सम्पूर्णब्रह्म, (अदः) अदृश्य, निर्विकार, निराकार, अशब्द, अस्पर्श, अरस, अगन्ध, अरूप, अगोत्र, अवर्ण, अव्रण, अचक्षुः, अपाणिपाद, सुसूक्ष्म, अदृश्य, अकथ्य, अग्राह्य है । (पूर्णम् इदम्) यही ब्रह्म संसार का कर्त्ता हर्त्ता धर्त्ता होने से कारण रूप से अपने कार्य्य में दृष्टिगोचर हो रहा है । (पूर्णात्) उपरोक्त पूर्ण ब्रह्म से (पूर्णम्) पूर्ण आनन्द (उदच्यते) योगी लोग प्राप्त करते हैं। परमात्मा के स्वरूप को स्पष्टतया अनुभव करके पूर्ण आनन्द से आच्छादित हो जाते हैं । (पूर्णस्य........) पूर्ण परमेश्वर के पूर्ण आनन्द को लेकर उस भण्डार में कमी नहीं आती, परन्तु बाकी भी पूर्णानन्द रह जाता है । तालाब में से आधा जल निकाल लिया जावे, तो बाकी आधा रह जावेगा, वैसे ख़याल हो सक्ता था कि पूर्णानन्द तो एक योगीराज ने ले लिया, बाकी कुछ नहीं रहेगा । उस का निषेध किया है कि

आनन्द अपरिमित है, अतः कमी नहीं हो सक्ती। प्रत्येक मनुष्य शुभकर्म यज्ञ, दान, धर्म, योगाभ्यास करके आनन्द प्राप्त कर सक्ता है और अनन्त आनन्दयुक्त परब्रह्म के आनन्द में कमी नहीं आती। अतः प्रत्येक महाशय को उस उच्च आनन्द की प्राप्ति की याचना सच्चिदानन्द से करनी चाहिये।

ओं सर्वं वै पूर्णᳫं स्वाहा।

इस मन्त्र को खड़े होके तीन वार पढ़कर तीन आहुतियां देनी चाहियें। उपरोक्त मन्त्रों से हवन करके जो सामग्री और घी बचे उस सारे को तीन भागों से अग्नि में डालना चाहिये। जब मनुष्य अपना सर्वस्व दान करता है, तो उस में अत्यन्त उदारता होती है, यहां भी अन्य प्राणियों के भले के लिये हम अपना सर्वस्व दान करें, ऐसी शिक्षा प्रतिदिन मिलती है। खड़े होकर हवि डालना उचित है, क्योंकि एक तो हम यज्ञ का इस कर्म से सन्मान करते हैं और दूसरा सर्वस्व दान देते समय, ऐसी रीति उचित प्रतीत होती है।

मन्त्र ३४

ओं द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्ति॒ राप॒ः शान्ति॒ रोषध॒यः शान्तिः । व॒न॒स्पत॒यः शान्ति॒ र्विश्वे॑दे॒वाः शान्ति॒ र्ब्रह्म॒ शान्ति॒ः सर्व॒ꣳ शान्ति॒ः शान्तिरेव शान्ति॒ः सा मा॒ शान्तिरेधि ॥

(द्यौः शान्तिः) सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागणादि रु[illegible] पूर्ण द्यौ लोक शान्तिकारक हों । (अन्तरिक्षं शा[illegible]) पृथिवी और द्यौ लोकों के बीच में आकाश [illegible] वायुमण्डल शान्तिकारक हों । (पृथिवी शान्तिः) भूमि अपने सब पदार्थों सहित सुखकारी होवे । (आपः शान्तिः) वर्षा का जल तथा पृथिवी के समुद्र नदी आदि या शारीरिक प्राण शान्तिदायी हों । (ओषधयः शान्तिः) सोमलता आदि ओषधियां सुखदायी हों । (वनस्पतयः शान्तिः) वटवृक्ष आदि वनस्पति कल्याणकारी हों । अन्नादि अधिक हों कि दुष्काल और अशान्ति न फैले । (विश्वेदेवाः शान्ति) सब विद्वान् लोग या सब इन्द्रियां

उपद्रवनिवारक और मङ्गलकारी हों। (ब्रह्म शान्तिः) जीवात्मा व वेद सुखदायी हों। (सर्वंशान्ति) इस जगत् की सम्पूर्ण चराचर वस्तुएं शान्तिदायक हों। (शान्तिरेव) अहो ! शान्ति ही (शान्तिः) शान्ति (मा) मेरे लिये (एधि) प्राप्त हो गई (सा) वह (शान्ति) शान्ति अन्य सब मनुष्यों को भी प्राप्त होवे ।

इस प्रकार शान्तिपाठ करके हवन समाप्त करना चाहिये और दृढ इच्छा करें कि सारे दिन और रात शान्ति, मङ्गल, आनन्द, सुख, हर्ष का राज्य रहे, और धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुवे जन्म, मरण, जरा, आधीनता, दीनता, निर्धनता के दुःखों से पार हो मुक्तिधाम की प्राप्ति हो।

॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



was included in the invitation. The government at once forbade the banquet, and announced that it would take steps to prevent it by force The 22nd was the appointed day There were crowds in the streets, uneasy but purposeless crowds which thronged past the Madeleine, crossed that great central scene of so much bloodshedding which Parisians have named the Place of Concord, and so over the Pont Royale to the Chamber of Deputies. There they were dispersed without loss of life by a regiment of dragoons De Tocqueville dined that night with a fellow-deputy Twenty places were laid, but only five guests sat down to dinner The five, he says, were "pensive." On his way home he may have noticed the distant flicker of the flames in which street-urchins were burning some of the benches in the Champs Elysées Lamartine, at least, observed them thoughtfully

At dawn, on the 23rd, troops occupied the principal posts of vantage in Paris, and there awaited events, extremely cold and uncomfortable Few people were to be seen about, only an occasional burst of distant firing echoed mysteriously from the labyrinth of streets in the neighbourhood of the Hotel de Ville In the evening, however, a large crowd encountered a regiment of the line before the Ministry of Foreign Affairs, was fired on by some misunderstanding, and took to its heels, leaving a number of dead Later that night the corpses were placed on a bier and borne processionally by torchlight through the streets "The government is massacring the people," sobbed de Tocqueville's cook next morning And through the night armed men went from house to house, barricades were hastily put up, and the church bells rang to summon Paris to further insurrection Louis Philippe could hear them distinctly from the Tuileries. During that night he invited Thiers, leader of

the opposition, to form a government The Reform-rebellion was over. Early in the morning of the twenty-fourth he lay down for a few hours, fully dressed. He could hear, where he lay, the confused murmur of conversation among his counsellors in an adjacent room, and beyond it the sounds of a distant but recurrent fusillade

There had been an odd effect of discipline about the two columns which were the nucleus of the crowd which had got itself "massacred" this night of the twenty-third They had seemed to be in no doubt about their objects or their route, these men, and to recognise officers from whom they received orders, and at least once a purposeful little band had detached itself from the main column and disappeared unostentatiously down a side street upon an unknown mission

This nucleus was drawn, no doubt, from the secret societies which, in increasing numbers since 1830, had been giving shelter to illegal opinions Louis Blanc gives an interesting picture, in the introduction to the *Histoire de dix ans*, of the French Carbonari under the Restoration drilling on straw in empty houses The *Droits de l'homme*, the *Famille*, the *Saisons*—all preserved the republican and revolutionary traditions, and, as we have seen, to these since 1830 had been adding itself the new revolutionary economic gospel The secret societies were often divided into sections of twenty members, each with an officer and under-officer. (Thus, for example, the *Droits de l'homme*) And hence no doubt the all but military discipline in portions of the crowds of 1848 All these societies, too, had had experience in one or other of the insurrections of 1832, 1834, and 1839. But it must be recognised that it was these societies which were created by the requirements of forbidden revolutionary opinion, not the opinion which was created by the societies. Nor

must the importance of the secret societie merely Parisian Revolution be exaggerated who was in as good a position as anyor their influence, observed that " the very which can be produced by a conspirato fluential only when they serve a general existing passion . In the modern all-powerful conspirator is public opinion

This insurrection of the twenty-seconc third had been the work of the party of *Guizot* had been its rallying-cry It had b and there had even been illuminations second insurrection developed out of it twenty-fourth The troops proved relucta offensive against it, and Thiers ordered the on the Tuileries and sent his colleagu announce to the crowds the concessions the king. He himself within a few hou slinking homewards *incognito* and by d shaken by hysterical sobs, muttering in himself and incontinently turning tail at of a crowd—even of street-urchins The original home of the house of Orleans, wa pillaged Louis Philippe, attempting enthusiasm of the National Guard, was chilling indifference, lost heart and abdic of the Comte de Paris, his grandson. Tha crowd destroyed the throne in the Tuileries of Deputies, which had proclaimed the C king and his mother regent, was invaded

[1] For Mrs Webster all revolutions and revolutionary op manufactured by secret societies, and even within the members are mostly " dupes " of highly mys propagate revolutionary opinion among them as a ulterior end, which is vaguely described as "the destru

was proclaimed and the republican members of the Chamber announced amidst uproar the members of a provisional government selected by the staff of the National Guard. These made their way across the tumult of Paris to the Hotel de Ville, where they had to effect a sort of coalition with the government already selected by the *Reforme.*

On the twenty-sixth the Provisional Coalition Government proclaimed the Republic Once more France was to receive a Revolution ready made from Paris. The Provisional Government had indeed some misgivings in this matter, its first draft of the proclamation stated that *neither the people of Paris nor the Provisional Government pretend to substitute their opinion for the opinion of the citizens, who will be consulted as to the final form of the Government* Lamartine asserts that in one of his many addresses to the mob in the streets at this time, speaking of the proposed Republic, he said, "We have only one right, that of proclaiming our own will, as the people of Paris leaving to the country and its thirty-six millions who are not present and have the same right as ourselves the expression of their sovereign will by means of universal suffrage the one foundation of any national republic." The people shouted in reply, "Yes, yes France is not here Paris is the head, but Paris must guide, and not tyrannise over, the body" Thus remote was the populace for the moment from the Jacobin view of the relation of Paris to France A later draft of the proclamation was less apologetic *The Provisional Government wills the Republic, under condition of approval by the people, who will be immediately consulted* And in the final announcement of the 26th the Provisional Government appeared to have overcome its scruples *In the name of the French people, Monarchy,*

under every form, is abolished without possibility of return Without possibility of return! Thus had the men of 1789 abolished the Bourbon monarchy and the restored Bourbon monarchy the empire of Napoleon.

The Provisional Government had now achieved the only task on which it was agreed It had no recognisable mandate, no instruments save what it could improvise and no authority save what it could usurp And from now onwards it carried disruption in its heart

The third, last, and longest phase of the Revolution is occupied by the conflict between the warring principles within the Provisional and Coalition Government The issue between them is clear The Republicans of the old Revolution (Lamartine and five others) were for the Republic, the democracy of universal suffrage and no more The new revolutionaries (Louis Blanc, Albert, Flocon) were for carrying out the further, economic Revolution, without waiting for the verdict of the nation The instincts of Jacobinism were reviving rapidly indeed. And at the moment the new revolutionaries wielded the same formidable weapon as the men of 1793, an armed body of supporters in the streets, organised, not now in the Jacobin clubs, but in the *Société républicaine centrale* of Blanqui and the *Club de la Révolution* of Barbès For some days no soldiers, no police were to be seen about the streets, "the people alone carried arms, kept watch over public places, was on guard, issued orders, and awarded punishments"

But in spite of this resumption of tradition there is a new and quite unmistakable tang of modernity about this Revolution Thus de Tocqueville observed "a very general effort to placate the new master Great landowners liked to recall that they had always been hostile to the bourgeois class and favourable to the people and

the bourgeois themselves remembered with a certain pride how their fathers had been workmen, and when, owing to the inevitable obscurity of genealogies, they could not trace themselves back to a workman who had actually worked with his hands, they would at least attempt to descend from a ne'er-do-well who had made his fortune for himself. In fact the desire for the publicity of such details was as great as a little while ago it would have been for their concealment." And "just now everyone did his best to make what he could out of any black sheep the family possessed. Any cousin, or brother or son one might be lucky enough to own who had ruined himself by his excesses was well on the way to succeed; while if he had contrived to win notoriety by some extravagant theory or other there was no height to which he might not aspire. The majority of the commissaries and sub-commissaries of the government were persons of this sort." The Duc de Broglie, poor gentleman, daily expected the collapse of civilisation.

The clubs began to establish their dictatorship at once. Even on February 25th an armed workman, spokesman of an immense crowd, demanded the *right to work* (*droit au travail*), Louis Blanc's phrase. Next day the establishment of *national workshops* was decreed.

On February 28th another organised demonstration demanded a Ministry of Progress. It carried banners on which were the words *Organisation du travail*, a phrase again of Louis Blanc's, and Louis Blanc himself supported the demand, and succeeded in persuading the government to create a Workers' Commission. Louis Blanc and Albert took up their quarters in the Luxemburg, whither they summoned representatives of various trades. And there this Commission decreed the reduction of the working day from eleven to ten hours in Paris, from

twelve to eleven in the provinces. Such were the not very formidable first-fruits of Louis Blanc's "perilous chimera" The employers, however, paid remarkably little attention to the modest manifesto, and the Luxemburg Commission, which was permitted neither authority nor money, could scarcely enforce it.

For the third time, on March 17th, the clubs organised a *journée*, this time to exact the postponement for a fortnight of the election of the Assembly which was to supersede the Provisional Government In this singularly short interval the country was to be converted to socialism. For the third time, and the last, the clubs were successful. On this occasion Blanqui (director of the *Société républicaine centrale*) was spokesman "His speech amounted," says Lamartine, "to a demand for the implicit obedience of the government to the dictatorship of the mob as expressed by the clubs" For Jacobinism, in fact

On April 16th there was yet another effort, and it failed: the bourgeois members of the National Guard lined up before the Hotel de Ville with cries of "Down with the communists!" The clubs had more than half Paris against them and the whole of France.

Meanwhile the government was experimenting with "national workshops" These were not organised by Louis Blanc, neither did they resemble the "social workshops" suggested in *L'Organisation du Travail* The members did not work at their own craft, but were regimented into brigades which were set to level the Champs de Mars at two francs a day (and, later, one franc when there was no work), a system ruinous to the exchequer and humiliating to the worker Unemployment growing continually, the numbers in the *ateliers*

nationaux rose from 6,000 in March to 100,000 in May; many of them were artists, actors, men of letters, clerks and the like The government, which was responsible for their distress, was in fact distributing charitable relief under a not very convincing disguise The *ateliers nationaux*, thinks Lamartine, were a guarantee against disorder and socialism. "They counterbalanced," he says, "the Luxemburg commission and the clubs, and on several occasions saved Paris, though Paris did not know" They became "seditious" themselves only with the arrival of the Assembly in Paris and its plan for their own dissolution Clearly this was an expedient, not a system, and clearly the *ateliers nationaux* (where, whatever their own skilled craft, men worked all together at the same unskilled labour) were notably unlike the *ateliers sociaux* of Louis Blanc, to whom a remarkable historical perversion has sometimes attributed them "Directed and controlled by leaders who shared the secret views of the anti-socialist members of the government," says Lamartine of the experiment of 1848, "they were instinct with the spirit of Louis Blanc's adversaries" The failures of 1848 are no reflection upon socialist theory, for the socialists were never in control even of the Provisional Government, and with the advent of the Constituent Assembly elected by universal suffrage they became impotent

The Assembly met on May 4th Universal suffrage had given an overwhelming majority to the possessing classes, and in an overwhelming majority the Assembly approved the anti-socialist Republic Only one or two of the new revolutionaries sat in the Assembly, and the executive commission of five which it appointed and which was to name the ministers was hostile to them. The clubs

remained the stronghold of the new Revolution. It was clear that there would soon be conflict once again, and perhaps mortal conflict, between this Paris of the clubs and France In 1793 we saw Paris dictatress of a powerless and not very resentful France In 1830 too, although a group of provincial deputies speedily assumed control of it, the Revolution was Paris-made But in 1848 France was becoming consciously restive beneath the yoke of her feverish capital.

De Tocqueville, in his provincial constituency, at the time of the elections for the Constituent Assembly of 1848, observed this new impatience at close quarters "For the first time," he says, "Paris inspired universal hatred as well as universal terror In France the attitude of the provincials towards Paris and the central authority of which it is the seat is very much like that of the English towards their aristocracy, which they view sometimes with impatience and often with jealousy, but which in their hearts they love because they always hope to employ its privileges for their own ends Now, however, Paris and those who spoke in her name had so misused their power and seemed to take the rest of the country into so little account, that the idea of shaking off the yoke and at last achieving independence presented itself to many minds which had never dreamt of such a thing before"

And in 1848 France was an altogether more formidable rival than in 1793 or 1830 The extension of the telegraph was beginning to make her *aware* The violent decisions of Paris no longer came to her belated and irreparable . she was growing into an organic and self-conscious whole But if the telegraph had given her consciousness, the more recent development of the railway had given her *power* The deputies who upheld her majesty would no

longer be left defenceless to the street insurrections of Paris When de Tocqueville set out for Paris his constituents bade him farewell with tears in their eyes, "for it was generally believed in the provinces that the deputies would be exposed to great danger in Paris, and several of the good folk said to me, 'If the National Assembly is attacked we will come and defend you'"

And lastly, besides being more conscious and more formidable, the provinces had in 1848 a very particular quarrel with their capital As we have seen, in Paris in 1848 a violent minority once more attempted to impose its will upon the country, and this will was not, as in 1793, the national will for victory concentrated in a class but the will of a class for its own advancement This class, as we saw, found no place in a society which had been remoulded and had hardened into its new shape before the existence in it of a new element had been suspected. Not participating in the legacy of the Revolution of 1789, that class desired a Revolution of its own, the economic Revolution of the Have-nots against the Haves of the excluded, against the heirs, of 1789. Unfortunately for the new revolutionaries the land settlement of the old Revolution, by parcelling out the soil of France in infinite sub-division, had included among the possessing class the vast majority of the nation; and though these peasants owned little, those who own least are usually the most tenacious of their property Hence the sinister news of the designs upon property did not, like English Chartism, alarm the middle classes only, but united provincial France in one compact brotherhood against the half of Paris Here and there in the towns the industrial workers espoused the new Revolution But France outside her cities was of one mind . in face of the threat to property all classes and parties drew instinctively

together "Property . . had become a sort of brotherhood., Rich . . and poor . . all held themselves brothers and all were equally concerned to defend the common heritage." Such was the mind of provincial France on May 4th at the time of the meeting of the National Constituent Assembly, to which it had returned so great a majority against the new Revolution. In less than two months it was to be at death grips with the new principle in the streets of Paris.

During those few intervening weeks Paris saw again the tactics of Jacobinism It was argued daily in the clubs, notes de Tocqueville, that "the people is always superior to its delegates, and never completely resigns its will into their hands. A principle true enough, from which, however, was drawn the false consequence that the workmen of Paris *were* the people of France." This was the principle put into practice upon May 15th, when an immense crowd invaded the Assembly, and amidst uproar and confusion declared the Assembly dissolved and proclaimed a Socialist Provisional Government. The National Guard arrived not a moment too soon and dispersed the demonstrators in inglorious flight De Tocqueville's recollections of the whole amazing scene should be studied carefully by anyone interested in the psychology of crowds

Six days later was held a Feast of Concord, a manifestation of fraternity at which three hundred thousand armed men, carrying the rifles with which they were to shoot each other down next month, defiled past a platform on which were seated the members of the National Assembly each with a pistol, a life-preserver, or a dagger concealed about his person The official programme enjoined "fraternal confusion," and the confusion at least was unmistakable

By now civil war was in the air Sooner or later Haves and Have-nots must come to grips And inevitably it was upon the *ateliers nationaux* that the issue was joined The Assembly was determined to dissolve this vast camp of over a hundred thousand armed and discontented workmen These were still employed, humiliatingly and unproductively, upon levelling the Champ de Mars "It is not our will to work that is lacking," they protested, "but useful work suited to our callings"; and they refused to disband. Fighting began on June 24th. The workmen fought without leaders, but with the utmost resolution Never before or since have they struggled with such good hope For a victory in Paris might give them France, and the socialist theories being in their heyday still it seemed to them that victory would be followed by the millennium But the very ferocity of the insurrection was fatal to it: for the possessing classes could not help but realise that either it must be crushed, or the society they knew destroyed. And consequently they, too, left their houses and fought desperately For both sides it was victory or slavery.

And for the first time France intervened. Already on the 25th by every road not actually held by insurgents, the possessing classes, noble and peasant alike, were pouring into Paris. By the 26th they were coming from five hundred miles away, and while the insurgents had no reserves, the defence could draw upon the whole of France. France had defeated Paris, and this defeat profoundly modified the form taken by the revolutionary idea when it next emerged, in the Commune of 1871. For the first time the whole was able to impose its will upon the part: a fact of tremendous significance. Perhaps never again—consider this—will a minority carry a revolution to success, at least by way of

insurrection. In this year a page is turned in the history of revolutions, *and conceivably the last*

In this conflict one bond had held together the defence, one interest it shared in common—property An aged kinsman of de Tocqueville's refused to leave the fighting "What would these brave folk say if I left them?" he replied, pointing to his heterogeneous comrades in arms. "They know that I have much more to lose than they if the insurrection triumphs" By the 26th the victory had been won Of the prisoners the majority were shot out of hand or transported *en masse* without trial In less than six months Louis Napoleon was Prince President of the Republic

The new and short-lived constitution of 1848 had asserted, together with the classic dogma of the separation of powers, that "all power emanates from the people." The legislature was an assembly of 750 elected by universal suffrage (for the first time the Revolution was completely justifying the Declaration of Rights of 1789), the executive was a President to hold office for four years, choosing his own ministers Who was to elect the President? If the Assembly, it would elect Cavaignac But if the people? Lamartine knew that he would not be elected by the Assembly "Let God and the people pronounce," he said "Something must be left to Providence" God and the people, he hoped, would pronounce in favour of himself By December, 1848, however, the people at least had decided for a man with unusually short legs and a face like a fish. Once more the Revolution was about to hand itself over to a despot.

It is instructive to note, in this matter of electing the President, the completely divergent wills of the people and their representatives. By orthodox theory the will

of the Assembly was the will of France, and the Assembly would have chosen Cavaignac Twice already, however, in 1793 as well as in 1848, we have seen the Paris streets claiming to speak for France: they would have chosen Ledru-Rollin. And France did in fact choose Louis Napoleon. Each of the three "Frances" would have spoken differently The truth is that the Assembly had been elected for a definite purpose, to protect the principle of property against Paris, and, this duty once discharged, its will bore no relation to the will of its constituents. This was in Louis Napoleon's mind when, preluding despotism, he invited its successor, the Legislature, to "associate itself with the national will of which his own election had been the expression." This justification he had too for the appeal by plebiscite to France Since, however, the plebiscite was preceded by a bloody and treacherous *coup d'état*, and accompanied by about ten thousand transportations, the justification was morally of the slenderest.

Plebiscite accepted both the *coup d'état* of December, 1851, and the assumption of the imperial title a year later (December, 1852) For a second time the Revolution of 1789 had surrendered to Cæsar And in return for what? The first Empire, we have seen, while destroying the form, preserved the substance of the first Revolution, and the second Empire too, while destroying the form, undertook to preserve the essentials of the substance The distinction is that the first Napoleon was needed to guarantee and protect the achievement of a vast movement of the human spirit in its creative phase, the second Napoleon came to defend in a movement static now and not creative that part of its achievement which it could not be cajoled into bartering away. The first was a task for genius, the second for cunning.

But if Louis Napoleon stood for the preservation of the old Revolution he stood for the destruction of the new In the eyes of the middle classes and peasants he guaranteed property against the *Rouges* who, after the disaster of 1848, were believed to be plotting a second rising for 1852. Once more Empire was welcomed because it promised *Order* And if the name Napoleon spelt Order it spelt *Glory* too Of the hundreds of thousands of peasants who voted for that name not a few supposed themselves to be voting for the "Little Corporal" himself After more than three decades in which to weary of weakness and humiliation, France was heartsick for the Napoleonic touch Glory, as we saw, had been the one desire common to all parties in the Revolution of 1848 · Order had become an even more urgent need in face of the threat of the new revolutionaries to society as constituted by the old In return for security for these two chief elements in the substance of the old revolution, France was prepared to forego the third, Equality, and, a little less readily, since the loss was more apparent and immediate, the form, the Republic Thus it was the New Revolution which yielded to Louis Napoleon, and this was the element in the Revolution of 1848 which failed. The old Revolution welcomed him as protector of its tradition, and the Revolution of 1848 in so far as it desired no more than Glory, and then Order, may be said to have succeeded. And thus Napoleon the third, like Napoleon the first, was demanded by the needs of a Revolution, he was less urgently demanded, less the inevitable, because the forces which called for him were spent.

The nature then of the appeal of Bonapartism was constant But it is interesting to note that neither the first Napoleon nor his nephew had foreseen that this

would be so The uncle had employed the unwonted leisure of St. Helena in remoulding the tradition, in the interests of the hoped-for successor, nearer what he supposed to be the heart's desire of France. For France in 1815 might easily be mistaken for a country weary of the rigours of Order and the perils of Glory, (he was an indifferent psychologist); and the nephew did his best to perpetuate the revised tradition in his *Des Idées Napoléoniennes,* published in 1839 It was asserted by this carefully considered reinterpretation that the Empire was always to have become Liberal, as, by force of circumstance, it had shown some signs of becoming in the *Acte Additionel* of the Hundred Days, when France was to have been educated up to freedom if Waterloo had not intervened The Empire stood in fact for Liberty and not for Order Also that only England had frustrated Napoleon's real desire for peace and a United States of Europe The Empire meant not Glory but universal peace It is interesting, in view of this laborious perversion of the truth, to reflect that it was quite unnecessary, since although in 1851 France accepted Napoleon III because his "name was a programme in itself," what hypnotised her was, as we have seen, precisely the legend in its original, unaltered version. Glory and Order! Such were the demands of all France save the Socialists. Could Louis Napoleon satisfy them? Upon the answer to that question depended the fortunes of the revolutionary idea. For the new Revolution, unlike that of 1789, was not powerful enough by itself to destroy a government It could but hope to rush in once more, as in 1848, to fill the void when government had been overthrown by other and more widely disseminated discontents

CHAPTER VIII

THE LAST REVOLUTION
(1852-1871)

A HISTORY of the fortunes of the revolutionary idea in 1848, as before 1830, would in itself be all but the political history of France But after 1851 the Revolution is once more driven underground, and its history, where it has one, becomes once more infinitely remote from that of France

The official political history of France is soon told. France was frozen by a despotism, which she tolerated for a while in the knowledge that the despot would protect Property and the hope that he would achieve Glory. Perhaps in 1856, when Paris, for the Congress after the Crimean War, was once more the political capital of Europe, it seemed for a brief moment as if Glory might have returned to stay If Glory had returned, the Empire might be ruling France to-day . there is scarcely any price France would not pay for Glory But by 1867 the last tragic act of the Mexican tragi-comedy had made it clear that Glory could never again be hoped for from the dull-eyed invalid in the Tuileries. The increasingly representative institutions of the liberalising Empire of 1869 were an attempt to share the responsibilities of dishonour with a nation which would have been invited

to an exceedingly small part in the credit for Glory. And in 1870 the second Empire was swept neck and crop, iron and pasteboard alike, into the gulf of Sedan If any two errors in particular can be said to have been the destruction of a system which was pasteboard from the first these were errors of foreign policy, both of them; the illusion of nationality, which permitted and indeed abetted the growth of powerful nation-states, not Italy only, but Prussia, and the disastrous policy of compromise between Liberal and Catholic in the treatment of Italy and the Pope Louis Napoleon was once persuading his small son to recite one of his fables. the child professed that he had forgotten the end of them all "Then tell us the beginning of one of them" 'I have forgotten the beginning." "Then let us have the middle," suggested the Emperor "*Mais, papa,*" replied the unfortunate child, "*où commence un milieu?*" Napoleon III was the last person in the world of whom to ask "Where a middle begins" The innocent question epitomises the whole fatality of the second Empire.

As he frequently announced, Louis Napoleon represented the will of the people, and in order to sustain his rôle conscientiously he was at pains to obliterate that will when it was hostile to himself He was not content with the transportations and exiles of the *coup d'état,* nor was it only the republicans and revolutionaries (in prison, transported, or plotting uselessly in the cafés of Brussels and London) that he silenced. Thus a woman was arrested at Tours for saying that the vine-disease was going to break out again, the prefect on her release threatening her with perpetual imprisonment if she persisted in spreading bad news. At the elections the government presented its own official candidates, paid their expenses, and enlisted all its servants in their

support. Election meetings were forbidden, and the election was managed by the mayor (appointed by the government) At the end of the first of the two days' voting, the mayor, whose advancement depended upon the success of the official candidate, would take the voting urn home with him It is only surprising that under these conditions the government ever lost an election And, needless to say, the revolutionary idea found no legitimate channel of expression The only journal permitted to the opponents of the Empire was the *Siècle*,[1] and the *Siècle*—it was the last touch to a system half ghoulish, half comic-opera—was controlled by the Emperor

Such was the official political history of the reign, and these were the reasons for the creation of a void in 1870 which first the orthodox Republic and then the so-called Communards rushed in to fill As under the monarchy of July, there are, broadly speaking, three sorts of revolutionary First, the orthodox republicans, relicts of the Revolution of 1789 , then the socialist partisans of the new Revolution, many of them becoming Communists under the grim influence of Marx , and lastly, distinguishable from these but essentially unimportant, those sinister and unhappy figures of the underworld who desired violence for its own sake, members of secret societies often, personified rather than led by Blanqui, certain to emerge into horrible notoriety in the course of a Revolution, which, whatever its nature, they would welcome but could never bring about, and as certain to relapse into their proper obscurity as soon as order of any kind began to be restored

[1] De la Gorce's account of the *Siècle* (*Histoire du Second Empire*, 3rd edn , ii 81-84) is worth reading if only as a piece of rich and partially unconscious comedy

Although only the policy of the first of these types can strictly be called Jacobin, the distinctive Jacobin claim for the dictatorship of a minority might be advanced by any of them. It is with the revolutionary idea among the socialists of the new Revolution that we are principally concerned, and its history is sharply cut in two, for whereas under the July monarchy the growth of the new revolutionary idea, equally remote from the official politics of the reign, was fully embodied in the Revolution of 1848, the modification of revolutionary thought under the second Empire finds no direct expression in the confused doings of 1871 The influence at work during the later years of the Empire is that of Karl Marx and the so-called Workers' International, but the theory behind the Revolution of Paris in 1871 is the theory of the Commune. Now the theory of the Commune is directly associated with the whole of the evolving idea we have traced since 1789, for it is the theory forced upon Paris by the victory of France over her in 1848 and the prospect of that victory being repeated in 1871. Jacobinism having been defeated in 1848, the Commune was the form taken by the will of Paris to dominate France, and thus the Commune and its defeat is the natural last act of the intellectual drama of which we are spectators There perhaps for Western Europe the transient phenomenon of Revolution ends The philosophy of Marx, on the contrary, and the economic theories of the International, although chronologically they fall within this period, are yet very little related to the development we have been tracing, being rather the germ of events which lie beyond our period altogether For our purpose what is important about Marx is not his influence upon the history of France, but the influence of the history of France upon him

This is indeed an aspect of Marx which is of great significance and has been neglected The part played by Marx in French affairs can be described briefly For the German edition of the *Communist Manifesto* was published in 1848, only a few days before the Revolution, and was scarcely known to the revolutionaries of that year, but the Provisional Government invited Marx, who had just been banished from Brussels, to Paris "A free France," they said, "opens her gates to you" Marx, mistaking the Revolution for the ultimate conflict of his anticipation, betook himself to Paris and thence to Cologne, where as editor of the *Neue Rheinische Zeitung* he published his heartless advice for "abridging the hideous death agonies of society" In 1849 he returned to Paris, but though his hosts were still free it was seemingly with a different brand of freedom, and they banished him to a distant corner of Brittany, whence he soon crossed to London Here he began to work at *Capital* and here he presided over the birth of the International

The idea of this society was conceived in 1862, when a deputation of French workmen visiting the International Exhibition in London foregathered with some English workmen who advocated "the union of labourers among themselves" The exchange of ideas, and perhaps assistance, however, not socialism in any form, was their object. In 1864 the "International Association" sprang from these origins: "The economical emancipation of Labour" was its "great aim," but, once more, no particular organisation of society is demanded Under the influence of Marx, however, the Congresses of the International adopted the main features of the socialism of the *Communist Manifesto*, and in the last years of the second Empire the International became a centre

for revolutionary propaganda in France The vaguer and more idealist French socialism of 1848 was hardening into the German drill-sergeant system of Marx And yet, as we shall see, such theory as the confused insurrection of 1871 had time to commit itself to was distinctively French, and save for one or two not very important particular measures, the Commune owed nothing at all to Marx Indeed, of the seventy-eight members of its *Conseil général* only about twenty were members of the International. Accordingly, it will not be necessary to concern ourselves at length with more than one of the five chief theories of Marx

Historically, in the materialistic interpretation of history—economically, in its theory of value and its prophetic law of the concentration of capital—and philosophically, for a view of human nature so childishly mechanical that it out-Benthams Bentham himself, the system of Marx has been proved false times out of number [1] Indeed, it is *fundamentally* false for it is certainly true that society will never be regenerated as long as its main purpose is the accumulation of wealth, or until its acquisitive impulses are transcended by the creative instincts and things spiritual become more precious to it than things material, that is to say, until the economic motive, which for Marx dominates human nature and human history, is consigned to its proper insignificance.

Anyone familiar with the enduring reputation of Marx must be astonished at the limitations of the achievement which earned it The truth is that Marx lives in his fifth doctrine, the prophecy of the inevitable success of the coming revolution of the proletariat ; and this has

[1] H J Laski's essay on Marx (pub Fabian Society, 1s) is an admirable short summary and critique

worked rather as a psychological process of suggestion than a reasoned theory. Conflict and victory, he says, are alike inevitable, "Capitalism produces its own gravedigger" Communists have only two functions. to prepare for the Revolution—by forming their own secret armed force—and to consolidate it when it has come, by means of a despotic dictatorship once more the Terror is to be wielded by a minority; for the end justifies the means; democracy, freedom, and majority-rule are alike illusions, and communists, who will always be in a minority, cannot afford to wait for the consent of the people Indeed, it would follow from Marx' doctrine that revolution is justified in any cause in which the shedders of blood happen to believe profoundly Liberty and equality mattered little to Marx, the Prussian But if it is the chief defect of the form of society he attacked that it denies liberty and equality to the mass of working people it must be said that all Marx' theories offer in exchange is a bloody and prolonged revolution which, if successful, would perpetuate in an acuter form the principal vices of the society it proposes to destroy

Beyond this dictatorship of a violent minority Marx did not look far Once the régime of class distinction and individual rights was destroyed the era of equality, he thought, would succeed to it as soon as a new psychology had been created by the intermediate dictatorship It is in this doctrine (and it is prophecy rather than doctrine) that Marx lives. He contrived by the very confidence of his assertion to permeate revolutionary socialism with his own belief in the inevitability of the final catastrophe of Capitalism, and to-day thousands who are altogether ignorant of the reasoning upon which that prophecy was based are convinced that Marx has proved the necessary success of the always approaching revolution Marx'

Capital has been called the bible of the working man, but working men have never been familiar with its chapter and verse, only with the hope it sanctions of a dreadful emancipation to come And theorists who are bitterly opposed to every other feature in his doctrine yet acclaim Marx as a major prophet merely because he did prophesy Thus the revolutionary Sorel, who approves little socialist dogma, approves Marx because he kept constantly before the eyes of the proletariat the vague but constant ideal of revolution which he himself has transmuted into the mystic doctrine of the general strike[1]

Marx was a Prussian Jew He loved little and he hated enormously—his fellow-socialists most of all His whole life was hatred, and this alone, even if there had been no error in his thought, condemns his system to futility. For the salvation of mankind will never come out of hate. This is a profound truth, and it invalidates a good deal more than half of the revolutionary gospels Marx' revolutionary civil war and its ensuing Terror, for example, must inevitably breed, as experience has taught our generation, precisely those passions which must be fatal to any system of equality or brotherhood such as he proposes to set up The destruction, however, of the existing order was perhaps for Marx more essential even than the establishment of the new

It was his profound faith in the certainty of the ultimate Communist Revolution which has given Marx his power over Europe What gave Marx this confidence? Undoubtedly the history of France. He read there of a violent minority seizing, remodelling and controlling the government of France in 1793 Indeed, in 1793, it might even claim to have justified its usurpation. In 1830 once more a minority presented a new government to an

[1] Sorel *Reflexions sur la Violence*

uncomplaining France And in 1848 Marx himself had seen France for some while ruled by half Paris Even 1871 did not shake his confidence Once more half Paris, or less than half of it, claimed to dictate the constitution of France It did not succeed, but it might, he thought, have succeeded. Better fortune, a little more determination . A few barricades, a day or two of firing, so it seemed, and even a thousand or so of revolutionaries (provided they were disciplined to the standards of a Prussian) could impose their vision of social regeneration upon their millions of fellow-countrymen

So it seemed. But how much Marx overlooked, or did not know! He forgot that no longer even in France was the stampeding of the administration in Paris enough to overawe the country permanently, though the days of June, 1848, were themselves enough to prove it. He did not realise that in the modern state the arming and disciplined training of a revolutionary minority, even of a few thousands, would become increasingly impossible. Nor that, even if it were possible, those few thousands would need, not merely now to erect a score or so of barricades, but to face a predominantly hostile army and navy armed with engines of modern warfare, with which a handful of determined men might easily crush the whole revolutionary force and of which the revolutionaries themselves could scarcely obtain possession without capturing the national arsenals. Besides this, that handful of men would have to guarantee the food and control the transport system of an infinitely complex society, and, having accomplished all this, they would in almost all modern societies be dependent upon the benevolent approval of the states upon which their national trade depended

Of all this Marx was ignorant He had seen France

passing from revolution to revolution, each seeming to remodel society according to the will of a minority. He neither realised the already patent, nor the implicit, obstacles to his ultimate revolution. And so, thanks to a tempting misinterpretation of the history of France—and 1793 has been too much for heads less inflamed with bitterness than his—Marx made that confident false prophecy which has needlessly obsessed the imagination of Europe ever since and to which, in the last resort, he owes so much of his lasting influence.

Such was the new and external force which was to desiccate and harden the confused and luxurious growths of the native socialism of France. The French founders of the International, however, were not disciples of Marx; in their modest rooms, 44 rue des Gravilliers, they debated, as students, not conspirators, the gradual and peaceful, the all but imperceptible, transformation of society by workers' associations: *mutuellistes*, they called themselves. Cautious to a fault, they were determined not to compromise themselves politically: too many workmen had been killed already on the barricades in the interests of the liberal or republican bourgeoisie; in future they would admit to their society only genuine manual workers. Jacobins and communists alike contemned these modest beginnings: "Imperialist socialism" they called it, affecting to see in the *mutuellistes* the secret agents of the Empire. In 1867, however, the International began to make something like a stir. The successful strike of the Paris bronze-workers of that year was supported by contributions from the working-men of London, Manchester, and Birmingham. In November the French society even demonstrated in the streets, and in 1868 it was twice proceeded against by the government. The students had become conspirators. It was in the

same year that the Congress, at Brussels, first committed itself to State ownership of the means of production. It is said that by 1870 there were seventy thousand adherents in Paris and in all France no less than two hundred thousand

In April, 1870, the Emperor once again appealed by plebiscite to France, the people was invited to approve the liberal reforms of the Empire since 1860 It accorded the required approval by 7,358,786 votes against 1,571,939 It is important to examine the details of the voting a little more closely[1] In the great towns—Paris, Lyons, Marseilles, Bordeaux, Toulouse and Saint-Etienne—the *noes* were in a large majority. And the strongest opposition, outside the great towns, came from the South-East and the Valley of the Rhone, in fact from precisely the districts where there had been socialist insurrections after the *coup d'état* Two most significant conclusions must result from these facts

First, the Empire had failed to solve the problem which had confronted it from its creation Glory and Order had been the promises of the Napoleonic legend, and neither had any attraction for that great industrial population which had grown up *after* the creation of the legend. Napoleon the third had spent his early years in developing that revision of the tradition initiated by Napoleon on St Helena—a needless revision which, as we saw, played no part in winning him his throne, but he had overlooked the only revision which could have been of service to him, one which might have added to the traditional formulæ some hope for the industrial workers. And so the industrial workers remained where they had been, excluded, nor in its nineteen years had the Empire, in spite of its sumptuous and extensive

[1] For some details see de la Gorce. *Histoire du second Empire*, vi 114 116

public works and its partial license of workmen's associations, advanced a jot towards attaching them to itself The voting on the plebiscite of 1870 is enough to show that the party of the new Revolution was still composed of the same elements, and still implacably hostile

But the voting has a second and an even greater significance It made it clearer than it had ever been that the will of the great towns, and particularly of Paris, was completely divergent from that of the country districts of France. Indeed, the results of the voting in Paris were known before those of the rest of France, and the revolutionary parties there had the additional mortification of having the jubilation of their first successes swamped by the overwhelming conservatism of the peasants And hence directly springs the theory of the Commune, which was an attempt to emancipate the towns from the control of the countryside The voting on the plebiscites of the Empire underlined for the Revolution the bitter lesson of June, 1848 This time Paris should not be taken unawares by France

Thus by 1870 the social Revolution which had been overwhelmed by France in 1848, and by Napoleon in 1851, was ready, behind the new theory of the Commune, for another conflict by itself it could no more hope to overthrow the Empire than by itself it could have overthrown the July monarchy in 1848. But if the Empire should collapse suddenly before disaster from without, abetted perhaps by a general contempt such as that which overthrew the monarchy of July, might it not shoulder out the milder majority of bourgeois republicans and fill the void (as the social revolutionaries had so nearly contrived to fill it in 1848) with its own more violent and Utopian creed ? So the revolutionaries began to hope, and at least it was clear that in spite of the

plebiscite the discontent was gathering ominously and needed only now some shock to the weakening fabric of Empire from without. The growth and nature of this widespread discontent belongs rather to the history of the Empire than to the history of the revolutionary idea. irreverence had been contagious since the relaxation of the Press Laws in 1867, taking shape now in the scurrilous witticisms of Rochefort's *La Lanterne*,[1] now in Erckmann and Chatrian's laborious review of the first Empire from the sordid underside of the conscript and the casualty list, while the insubordinates of the Chamber had grown from the impotent "Five" who faced the serried ranks of government nominees in the muzzled Chamber of 1857 to the famous hundred and sixteen who signed the demand for accelerated reform in 1869 "The Republic," wrote the socialist, Malon, in November, 1869, "is morally proclaimed" And it is not too much to say that from the summer of 1869 the Empire was spiritually dead; it awaited only the *coup de grâce* to its material

[1] Writers who refer to Rochefort confine themselves with curious regularity to de la Gorce's few quotations from him (and these come almost all from Rochefort's first number) But *la Lanterne* can be recommended as the most excellent reading throughout The following are two good examples of his bitter, allusive manner in its less scurrilous vein —

"Monday, August 10 Seventy-eight years ago to day at this very hour the people was plundering the Tuileries To day it is exactly the reverse"

And again (he complains of having been accused of "systematic opposition") with some pleasant allusions to the Mexican imbroglio, written in 1868;

"My opposition is systematic, I admit, but, to be fair, so is the admiration of the *Constitutionnel*

"As long as so many of our great men systematically pocket 250 to 300,000 francs a year

"As long as M Rouher systematically maintains that the Mexican expedition is the great inspiration of the reign (not of Maximilian's reign, of course),

"As long in fact as the country seems to me to get on systematically badly, I shall systematically reiterate that it doesn't get on well

"When Cortez (one of the thousand and one conquerors of Mexico who has subsequently been superseded by brigands) stretched the favourite of Guatimozin on a white hot grid iron, he probably com plained of the unhappy Aztec's protests at being roasted as 'systematic opposition' to himself"

structure The *coup de grâce* was being busily prepared in Berlin

The end, when it came, came with merciful rapidity On July 14th, 1870, France declared war on Prussia On September 2nd the Emperor and 80,000 Frenchmen surrendered to von Moltke at Sedan On September 3rd the news was known in Paris, and on September 4th the people of Paris proclaimed the Republic. This was the Revolution of 1870 There had been no resistance No one laid down his life for the Empire

Once more the Republic had returned, and with it the logical fulfilment of the old Revolution ; and once more it was a Conservative Republic But, like the Republic of 1848, it had still to survive the assault of the new Revolution.

The Provisional Government formed on September 4th assumed the title of " Government of National Defence " Under General Trochu it remained in Paris through the siege, sending a delegation to Tours to govern the rest of France. On January 28th, 1871, Paris had capitulated, an armistice was signed, imposing on France a general peace on Prussia's conditions in order to obviate in the interests of Paris the probable rigours of a peace made with the capital alone. A National Assembly was to be elected, and the National Assembly would choose between peace and war This Assembly was elected on February 8th Its majority was monarchist and in favour of peace, and on February 17th it proceeded to elect Thiers dictator by acclamation , for Thiers had opposed the later foreign policy of the second Empire and after September 4th had declared for peace rather than the now hopeless war On February 28th Thiers submitted to the Assembly the terms of the peace he had discussed with Bismarck since February 19th The Assembly,

sitting at Bordeaux, accepted them, although they included the cession of Alsace-Lorraine and the entry of the Prussian army into Paris Immediately Paris rose.

Throughout the siege of Paris a minority of republicans had not ceased to hope, remembering 1793, the Committee of Public Safety and the *levée en masse,* for a national effort which would even yet save France from the Prussians. To many of them Trochu, governor of Paris, and the chiefs of the National Defence had seemed cowardly, if not treacherous; the national effort, which they awaited, did not come

> "This Paris, for which Hoche, Marceau, Kleber would have been neither too young, nor too faithful, nor too pure, had for generals the residue of the Empire and Orleanism . In their pleasant intimacy they made much fun of the defence"

So wrote Lissagaray, apologist and eye-witness of the Commune. And to this cowardice of the defence was added now the undoubted hostility to Paris of the majority of the newly-elected assembly which established itself not at Paris, but at Versailles, abolished the moratorium on rent and other obligations accumulated during the siege, appointed an unpopular commander to the National Guard, and cut off its pay. So France, it seemed, which had conquered Paris and the economic Revolution in the bloody street-fighting of 1848 and had swamped with her apathy the protest of the Parisians and the revolutionaries in the plebiscite of 1870, this France of the "brutal rurals" (the words are Lissagaray's) was once again to betray the country and to betray it this time not only to the possessing classes but to the Prussians? Paris struck quickly. In February had been formed a "central committee" of the National Guard, which proposed to concern itself not merely with

the affairs of the National Guard but with the safety of the Republic On March 10th this committee refused to surrender the cannon of the National Guard, and on the 18th the troops sent by the Versailles government to retake them were repulsed and the "central committee" established itself at the Hôtel de Ville France settled down to besiege Paris before the observant Prussians The Revolution of 1871 had begun

Eight days later, on March 26th, was elected the Council General of the Commune of Paris—with a large majority for the recent Revolution. The Council General assumed the government of Paris, but the central committee of the National Guard did not dissolve, and it is this twofold and somewhat indeterminate authority which is known as "the Commune" Necessarily the ingredients of the Commune were heterogeneous Of the seventy-eight members who sat in the Council General about twenty only could be said to be orthodox Marxians of the International, though there was a tail of vaguer socialists whose intellectual origins were in 1848, about twenty more were followers of Blanqui, inevitable products of violence who considered violent revolution a good in itself and aimed at no preciser consummation; and the rest were Jacobins of the tradition of 1793, without precise economic theories but dreaming patriotically of the Terror and the *levée en masse* The men who made up the "Commune" were thus of many sorts, they were not all for the economic Revolution and would have quarrelled unappeasably as to their social policy had they ever been in a position to enforce one But upon one thing they were in substantial agreement—the principle of the Commune And the principle of the Commune was the indispensable preliminary to the new Revolution

As we have seen, the over-preponderance of Paris in France, the tradition that the part is greater than the whole, was much older than the Revolution For more than one century Paris had absorbed the intellectual life of France as the intellectual life of England could not conceivably be absorbed by London We have watched Paris making world-history in 1789 while France looked on, passive if expectant Indeed, the hegemony of Paris was only seriously questioned in the early months of the Convention, and the catastrophe of those who questioned it was rapid and complete It was not till 1848 that France first met and worsted her own capital Unluckily the political differences of the strange disputants did not abate under the second Empire as we have seen, they were already flaring up anew with the plebiscite of 1870. Indeed, with the recent growth of the industrial centres, it becomes more accurate now to speak not so much of the political antagonism between France and Paris as of the social antagonism between the great towns and the country districts Lissagaray's "brutal rurals" is the bitter cry of the Communard, and in 1871 the proclamation of the Commune in Paris was imitated in Lyons, St. Etienne and Creuzot as well as in Marseilles, Toulouse and Narbonne

The dispute, although an issue now between great towns and countryside rather than between capital and nation, remained fundamentally unchanged Was the countryside majority to be dictated to by the urban minorities?—such was the quarrel still, but its complexion had been altered by the industrial Revolution It was not now merely a question between an "advanced" politically conscious Paris and an apathetic France the new industrialism had made a new division in the national life, had given to the town workers a new and bitter

grievance, a distinctive and urgent interest Beneath its crude excesses the tragedy of the Commune, and the theory of the Communards, were in effect no more than the clear statement for the first time in France—and a statement the more bitter for its unnaturally long suppression by the second Empire—of the principal problem of our day, the problem of the soul of man under the industrial system Not that the Commune made any serious attempt to grapple with economic problems, it was too busy fighting · but the bulk of the Communards had realised that the inevitable preliminary to any solution of industrial discontents must be some re-organisation of the political system which could free the industrial populations of the great towns to work out their own salvation without being outvoted by rural majorities ignorant of their peculiar discontents In other words, the system of the Commune was to be the forerunner of the now receding economic Revolution. 1848 had shown that without some such preparation the economic revolution was foredoomed And so once more, as in 1793, Paris was attempting a re-interpretation of democracy But this time the dictatorship of the minority was clearly to pursue the interests of the minority ; it had no longer the justification of 1793—that its supreme and only purpose was the salvation of the *patrie en danger*

To free Paris, and the great towns, from the country-side—clearly then this was the purpose of the Commune At present the government controlled the countryside and the countryside the towns. There was only one solution—to reduce to the barest possible minimum the exaggerated centralisation which endured as the legacy of the *ancien régime* and the first Napoleon, and to leave to local bodies not only full powers of self-administration

but the right of social self-development and self-organisation In other words, France must become a federation of autonomous communes. And this is the meaning of the Communard theory in one at least of its two aspects, and Paris in 1871 was claiming from France that federation which in 1793 had been (through the Girondins) her bitterest charge against France. This federation of self-governing units was at least the *primâ facie* motive of the Communards of Paris; and in so far Paris might appear the beneficent liberator of France. "Paris," writes Lissagaray of the proclamation of the Commune, "broke the thousand fetters which bound France down to the ground . . restored the circulation to her paralysed limbs; said, 'the life of the whole nation exists in each of her smallest organisms, the unity of the hive, and not that of the barracks'" Such was the liberator's rôle adopted by Paris at the outset of her adventure and the manifesto of April 19th particularises the "inherent rights" of every Commune. These include vote of the communal budget, local taxation, control of local education and police; choice and control of the magistracy, and complete individual liberty and rights of public meeting, control of urban defence and National Guard. With such full powers surely the individual commune might work out its own salvation?

But the ultimate aim of Paris was in fact something quite other than the independence of all the local units of France, and beneath its superficial appearance of federalism the theory led quite logically, and only by a different path, to the familiar conclusion—the despotism of Paris For the villages and the smaller towns of France were (and indeed remain) notoriously incompetent to transact the most everyday local business France has

had a training in local self-government, and the two years of the Revolution of 1789, as we have had been by themselves sufficient to demonstrate bsurdity of the complete local autonomy which had of France a mere *poussière tourbillonnante* To in- the countryside of France in such a federation of endent units could only have meant its subordina- o the great cities, and primarily to Paris, instead the centralised government And this is the second he truer aspect of the theory of the Commune. ith their seductive talk of the "inherent rights" ery commune this was, no doubt, or became as nstances forced its necessity upon them, the tive of the majority of Communards. the "brutal s" were once more to be relegated to their proper Lissagaray's comment upon the manifesto of 19th is significant of the real meaning of the ment.

"According to this text, every locality was to shut elf up within its autonomy. But what to expect of onomy in Lower Brittany, in nine-tenths of the ench communes . . ? No! Thousands of mutes l blind are not fitted to conclude a social pact. ak, unorganised, bound by a thousand trammels, *people of the country can only be saved by the towns, l the people of the towns guided by Paris*"

comment represents what was increasingly the nant motive of the Communards, and in any case have been the inevitable consequence of the appli- n of their theory—the revived despotism of Paris. h is the essential import of the tumultuous gesture we call the Commune, for its theory was infinitely significant than its practice Indeed its practical vements are negligible: for it spent its time fighting

and had little time for legislation, and it suffered moreover from the poor quality of the members elected to the Council, violent talkers rather than men of experience Of the ten "commissions" into which the Council divided itself the Commission of Labour and Exchange is the most important, if only because it was the Commission of Labour and Exchange which attempted some rudimentary socialist legislation The suppression of pawnshops, the abolition of fining by stoppage of wages by employers, and of night work among bakers, the return of deserted workshops to co-operative societies of workmen, and an elementary labour exchange were all projected or attempted, and the Commission commenced an investigation into the system by which government contracts went to the lowest tender, usually, as it believed, made possible by reducing not profits but wages There is nothing very revolutionary about this, and the Commission of Labour and Exchange was practically the only commission which achieved any legislation at all of the rest the Commissions of War, Public Safety, the Exterior, Education, and Justice varied only between total and all but total futility; that of the municipal services functioned normally by normal methods and only that of Finance improvised with genuine ability The Commune was revolutionary not because of what it did but because of what it claimed.

For two months the Revolution of Paris maintained itself desperately against its besiegers, beneath the cynical observation of the Prussians who held the ring in the interests of Thiers. On the whole during these months the Commune was surprisingly guiltless of excess But by May 21st the army of Versailles had forced its way into Paris and there followed a hideous week of bloodshed in the streets, during which the Communards

in the desperation of defeat shot a number of their hostages and set fire to the districts captured by the Versailles troops By the 28th all was over guns, cartridge boxes and uniforms littered the gutters of the poorer quarters, while in the doorways sat stony-eyed women waiting chin on hand for the men who would not come back and elsewhere more elegant Parisiennes could be seen trilling with excited laughter as they raised the covering with the tip of their parasols and peered at the faces of the dead. The vengeance of the party of Order was comprehensive and very dreadful, more dreadful than the vengeance of the Revolution had ever been, even in 1793 , the shooting of men, women and children in hundreds and without trial was a massacre, not an execution, and not a few of the victims were buried before they were dead The details of the savagery read strangely like those of the atrocities reported of the Germans in Belgium in 1914 Trials, where they took place, were travesties as horrible as those of 1793. A certain Moilin was condemned, as his judges informed him, " not that he had committed any act that merited death, but because he was a chief of the socialist party, one of those men of whom a prudent and wise government must rid itself when it finds a legitimate occasion "

All over Paris huge piles of corpses encumbered the streets and poisoned the air The cemeteries of Paris could not receive a tithe of the butchered. Enormous ditches at Père Lachaise, Montmartre and Mont-Parnasse and the trenches of the first siege at Charonne and elsewhere absorbed the unhonoured corpses, while women, widows and mothers, peered hopelessly among them for the dead that had been theirs When the task of burial became too onerous the corpses were burnt in the open air It seems probable that 20,000 were killed during the

few weeks immediately following the victory. The figure is unparalleled, in modern European history almost unimaginable And the martyrdom of the prisoners was more dreadful than that of the executed: there were probably between 40,000 and 50,000 of them,[1] and among them more than a thousand women and seventy children under fourteen, and the barbarity of their treatment can be matched only in the East, one must look to the Black Hole of Calcutta or to some of the Armenian massacres for an approach to the brutal savageries of the conquerors Twenty-two courts-martial sat until 1876, trying the prisoners of the Commune. Perhaps of their sentences execution was to be dreaded less than the death in life of transportation to the Antipodes.

The cruelties of which man is capable are a perpetual marvel · none the less nothing in history, not even the Terror, prepares one for the fate met by Frenchmen at the hands of Frenchmen in 1871, the age of Gladstone, the year in which Lowe was creating a sensation in England by proposing the taxation of lucifer matches It was a party of women, dying of thirst, who were forced by their fellow countrymen to drink from a pond red with the blood of their own people. It was by their own countrymen that prisoners were piled for twenty-four hours, and longer, at a time in stifling cattle-waggons without ventilation or drink or room to stir, and it was their own countrymen who, when the cries from the waggons grew too loud, fired at random into the mass of humanity within. Such was the vengeance of the possessing classes upon the dispossessed, of the old

[1] See Lissagaray on the massacres, and the inferno of the prisoners Lissagaray of course is a partisan, but his evidence is convincing General Appert, at the head of military justice, admitted 17,000 victims and 38,568 prisoners

Revolution upon the new, of the provinces upon Paris; its details do not, like those of the Terror, find their way into history, but they repay some examination, most dreadful among all the dreadful annals of Revolution

The new Revolution had lost its leaders with a great part, and that the most active, of its rank and file Once more it passes from sight, and when it reappears—beyond the range of our present purpose—it reappears in the new guise of syndicalism, still theoretic rather than practical, touched still, as the *Reflexions sur la violence* of Sorel, its philosopher, bears witness, with something of the tradition of the terrorist and the idealogue. The dreadful story of 1871 is the last act of the drama of which we have been spectators Once more the Revolution of 1789 affirms itself as the permanent settlement of France against the challenge of the new Revolution. And here too, at least for France and England, the history of violent revolution seems to end It is possible that a great military defeat, as with Germany in 1918, a great famine or pestilence, may yet bring about a social upheaval Apparently, too, mankind does not outgrow violence; none the less and in spite of recent happenings in Ireland or Italy all the evidence seems to show that an organised Revolution to change the constitution of society is not likely to occur and if it occurs cannot succeed. Such changes can be effected only by majorities, and majorities have usually other means of enforcing their desires I say "usually" for it is always conceivable that the majority of a nation might desire a change in the economic structure of society which a small, economically powerful minority was able to prevent In which event we should see once more the Revolution of a majority

CHAPTER IX

CONCLUSION

THERE are then two French Revolutions. The first—which had spent both its aggressive and its constructive force by 1814, but which includes the conservative rising of 1830 and subsists thereafter as a conservative force—achieved a gigantic result, nothing less than the permanent remaking of France; and it achieved it probably with the infliction of no more suffering than was caused by the government's suppression of the brief revolt of the Communards in 1871. The second Revolution—which was crushed in 1848 and again in 1871—at great cost achieved no positive results at all. What does this acute contrast teach us as to the nature of Revolutions?

And, first, it is worth while to notice that the opinions popularly held and the conclusions popularly drawn in England concerning the two Revolutions are on the whole the precise contrary to the truth. The "average, unphilosophic man" supposes that the first, the great, Revolution accomplished little or nothing at a vast expense of blood and misery. And the explanation of his error is not difficult. It is due in the first place to a natural misunderstanding of the rôle of the first Bonaparte. To the unreflecting spectator the Revolution, in accepting a Cæsar, may excusably appear to have been

unconditionally surrendering, where in truth, as we have seen, it was but welcoming for its own purposes a great servant who would pursue its own ends The Empire, as we have seen, was nothing more nor less than the final stage of the Revolution And, secondly, the popular misjudgment is due to the literary, often propagandist, representation of the Terror For the Terror has long since passed from the domain of history to that of literature. The romantic possibilities for a certain type of fiction-maker of the drama of aristocrat and sansculotte are too great. and, needless to say, the sansculotte is not its hero How many moving (and imaginative) pictures are there not of human tragedy under the first Terror? Is there one of human tragedy under the Terror of 1871?

These two misconceptions of Bonaparte and of the Terror, I think, largely explain the popular misconceptions of the great Revolution And yet, in spite of this complete miscalculation of its success and cost the "average, unphilosophic man" does none the less suppose that French history has somehow proved the terrible ease with which Revolutions may be made and may succeed This is indeed the second great popular error of which I spoke. Its explanation is not difficult All the three French Revolutions of the nineteenth century, 1830, 1848, and 1870—and we might count them five if we chose to include in our reckoning the events of 1814 and 1815—involved the overthrow of a reigning house, while the fourth Revolution, that of 1871, seen at a distance, appeared little more than the aftermath of 1870 Now to English eyes nothing appears more catastrophic than the expulsion of a sovereign dynasty, and it is easy to understand how the history of France in the nineteenth century came to be thought of as an apotheosis of facile

and successful revolution-making Even to-day, indeed, this misjudgment contributes to the strange disquietude revived by the successful Russian Revolution in western countries where conditions do not remotely resemble those of Russia. We have thus the curious position that by the unreflecting the history of France is wrongly supposed to prove the continued possibility of successful Revolution and that this proof is found not in the Revolution which did in fact succeed but in those which in fact did not.

Such then, in parenthesis, are the two erroneous but popular opinions concerning the French Revolutions What lesson are we ourselves to draw? And here we must return to our contrast between the success of the first, and the failure of the second, revolutionary movement What essential difference in character or circumstances accounts for their difference in result? And in answering this question we ought to come to some conclusion as to the possibilities of Revolution in other countries

In the first place the Revolution of 1789 was permanently successful because it was *national*, whereas the attempts at economic Revolution in 1848 and 1871 were the efforts of a small minority. It is perfectly true that during a phase of the first Revolution, for more than two years, let us say, from 1792 to 1794, France was ruled against its inclination by a minority, and that this prolonged and successful minority-rule was possible in the France of 1792 with its undeveloped communications and was not possible in the more highly organised France of 1848 or 1871, with its more elaborate system of communications. But although lack of communications and political apathy made minority rule possible for a while in 1792, nothing but the assent of the great majority of

the nation could have made the results achieved by the Revolution permanent The dictatorship of a minority was not possible at all in 1848, still less in 1871 it was only possible for a limited period even in 1792, and then principally because of the imminent peril of conquest by foreign invaders when that peril had receded, the dictatorship of the minority collapsed

The first Revolution was successful, that is to say, it effected great and permanent changes, because such changes were desired by the majority of the nation Before 1789 the great majority of the nation—broadly speaking, the whole of the middle classes and the peasants—desired either the re-organisation of government or the destruction of feudalism (the two great ends of which we have spoken as Order and Equality) or both By 1814 these two purposes had been achieved—the middle classes had received strong and efficient government and the career open to talent, and as for the peasants, they had been liberated from the overwhelming burden of feudalism and had got possession of the land The nation as a whole thankfully assented to these profound modifications of the structure of national life It was, necessarily, the activity of a minority which accomplished them, but they could have been accomplished only with difficulty, and could not have endured at all, without the consent of the vast majority of the people of France This is the one ultimate reason why the first Revolution was successful. And this great fact too, the assent of France, stultifies the partial but too common picture of the Revolution which concentrates all attention upon the cruelties of the Terror or the obscure undercurrents of revolutionary plotting The first Revolution was the work of France, that is at once its justification and the cause of its success

Another cause of that success—or it may be considered another aspect of the same cause—which likewise differentiates the first Revolution from the second is that, taking the Revolution as a whole, it was a movement which had grown slowly through many years. The Revolution, as I have shown, was in being long before 1789 Its " outbreak " in that year was not due to the fallible decision of a handful of conspirators but to the inscrutable provision in circumstances of an outlet for explosion, which, had circumstances fallen otherwise, might have come sooner or later, but in any event must have come

It was otherwise with the second Revolution—of 1848 and 1871, the economic Revolution (for both, as I have said, were social Revolutions). Very strikingly this was the Revolution of a minority, a minority even of Paris France, with its highly centralised government, its concentration of political and intellectual life in the capital, and its tradition of provincial apathy, was the most susceptible of highly organised states to a minority Revolution. But even in France neither rising was able to do more than maintain itself precariously for a few weeks. How much less could it have effected any lasting modification of the social structure ! The accident that three times a reigning dynasty fell unresisting was not strictly the work of the revolutionaries Twice the economic Revolution did its best to seize power in order to remodel society, and twice it failed. Some of the reasons why in a highly organised society the Revolution of a minority must always fail I have enumerated in discussing the prophecy of Marx These reasons are implicit in modern society, and may be studied there in detail. Some of them have become apparent in the course of our sketch , but in this matter of the possibility of

minority Revolutions the clearest lesson taught by it is to be learnt from the wider fact that for a highly civilised society France in the nineteenth century offered unexampled opportunities for a successful minority Revolution and yet always the minority Revolution failed What would be the prospects of success in a modern state of Revolution by a *majority* is another and a deeper problem, and I express no opinion upon it here

In presenting in bare outline the succeeding phases of the revolutionary idea I have been at no pains to pass moral judgments upon it And yet incidentally I have drawn attention to the possibility of wrong judgments The most fertile source of misjudgment, as we saw, is the unphilosophic view which understands by the French Revolution the history of France during the years over which the Revolution extends It is easy enough with such presumptions to present the Revolution as culpable out of all semblance to truth The Terror, with such presumptions, becomes a vast crime (though even so no vaster than that of 1871). But not more than half the responsibility for the Terror belongs to the true Revolution, to the national will, that is, for certain changes and the effort to achieve them Again, I have noticed here and there a few of the inevitable ineptitudes of any attempt to present the Revolution, in all its phases, as the blind struggle of dupes impelled all unknowing by a hidden but permanent conspiracy to "destroy civilisation", but such a view, with the estimate it implies of ordinary humanity, and its blindness to the overwhelming debt of the civilisation of Europe to-day to this very Revolution, needs in truth no detailed exposure Any unprejudiced account of the origins of the revolutionary idea must be its refutation

Lastly it is worth while to notice that the Revolutions

of the nineteenth century in the other countries of Europe were not of the same kind as those of France, although particularly in 1848 they followed their French predecessor with curious celerity, and although at the time many French revolutionaries mistook them for imitations. The first French Revolution has had an altogether incalculable effect upon political thought and practice all over Europe, and far more effect there than it has ever produced in England It was unique in that it was not only national but international the deputies to the Constituent Assembly felt themselves representatives not of France only but mankind And yet, although the French Revolution has in varying degrees become part of every civilised state, there has been no European Revolution of the same nature It was not needed Some of the work done in France by the Revolution was done upon the continent of Europe by the Napoleonic armies of occupation or by the Napoleonic Empire which destroyed the *ancien régime* far beyond the boundaries of France The rest was accomplished at other times and in other ways or has not yet been accomplished at all As for the second, the economic Revolution, the objects at which it aimed are pursued in all European countries but there has been no genuine attempt at a violent economic Revolution outside France[1] Outside France the Revolutions of the nineteenth century were either merely liberal, like that of Spain in 1820, or merely nationalist, like those of Greece in 1821 or Lombardy in 1848, or both together like those in Germany in 1848. Socialist thought in England and Germany did not lag behind that of France, but in France Socialism found both the revolutionary temperament and two Revolutions ready made for its exploitation. And hence the

[1] In this connection Russia is not a European country

unique character of French history. Socialist thought has followed in other countries very much the lines which it followed in France, and the mistake has been too commonly made of supposing that other countries must necessarily share also the revolutionary history which for a while accompanied it in France. There will be Revolutions again only if the conditions of the France of 1789 are reproduced Only, that is to say, if the majority of a nation needs and desires a change and a privileged minority is able to prevent that change from being brought about by constitutional or peaceful methods.

SHORT LIST OF BOOKS

A.—For 1789-1799

GENERAL

*DE TOCQUEVILLE	*L'ancien régime et la Révolution*
*A AULARD	*Histoire politique de la Révolution française*
*L MADELIN	*La Révolution française*
LORD ACTON	Lectures on the French Revolution
SOREL .	*L'Europe et la Révolution française*
*BOURGEOIS	*Manuel historique de politique étrangère,* Vol 2
MORSE-STEPHENS	History of the French Revolution

CHAPTER I

LOWELL .	France on the eve of the Revolution
A AULARD	*La Revolution française et le régime féodal*
ARTHUR YOUNG	Travels in France
TAINE	*Origines de la France contemporaine,* Vol I.
J B. BURY	The Idea of Progress
MME DE STAEL	*Considérations*
BURKE	Reflections on the French Revolution
ROUSSEAU	*Du Contrat Social*

CHAPTER II.

*MIRABEAU	*Correspondance avec le Comte de la Marck*
WILLERT	Life of Mirabeau
J B BURY	*Op cit*
THIÉBAULT .	*Mémoires*
A AULARD	*Op cit*
MORSE-STEPHENS	Orators of the French Revolution
WICKHAM LEGG .	Select Documents of the French Revolution
SCHMIDT .	*Tableaux de la Révolution française*
CARLYLE	French Revolution (*ed* C R L Fletcher)
MRS. N H WEBSTER	The French Revolution A Study in Democracy

Chapter III

Schmidt	*Op cit*
Morse-Stephens	Orators of the French Revolution.
*Cochin .	*La crise de l'histoire révolutionnaire*
Thiébault	*Op cit*
Buzot	*Mémoires*
Levasseur de la Sarthe	*Mémoires*
Landau-Aldanov	*Deux révolutions*
R W Postgate	Revolution from 1789 to 1908
G D H Cole	Social Theory
Robespierre	*Œuvres*
Lenôtre .	*Les massacres de septembre*
Mrs N H Webster	*Op cit*
L Madelin .	*Danton*
Lamartine	*Histoire des Girondins*
John Moore	Journal during a residence in France (1793)
Taine	*Origines de la France contemporaine*
Mme Roland	*Mémoires*
Anatole France	*Les dieux ont soif*
Guénin and Nouaillac	*L'ancien régime et la révolution*
Dumouriez	*Mémoires*

Chapter IV.

Schmidt	*Op cit*
Mrs H N Webster	*Op cit*
Mrs H N Webster	World Revolution The Plot against Civilisation
*Vandal	*L'avènement de Bonaparte* Vol 2
*H A L Fisher	Bonapartism
Holland Rose	Napoleon I
Seeley	Short History of Napoleon I
Mme de Stael	*Considérations*
Bodley	Modern France
Aulard	*La révolution française et le régime féodal*
Lecarpentier	*Les biens nationaux*
Lichtenberger	*Le socialisme et la révolution*
Bailleul .	*Examen des considérations de Mme de Stael*
de Goncourt	*La Société sous le Directoire*

B.—For 1814-1871.

General

*Bourgeois	Modern France
*Seignobos .	*Histoire de l'Europe contemporaine*

CHAPTER V.

BONALD . *Pensées*
BONALD . . *Mélanges littéraires politiques et philosophiques*
CHATEAUBRIAND *Œuvres* (esp *Mélanges politiques*).
DE MAISTRE *du Pape*
*LOUIS BLANC . *Histoire de dix ans.*
GUIZOT . . *Mémoires*

CHAPTER VI

THUREAU-DANGIN *Histoire de la Monarchie de Juillet*
BOURGEOIS *Manuel historique de politique étrangère.*
VICTOR HUGO *Les Misérables*
*DE TOCQUEVILLE *Souvenirs*
NASSAU SENIOR Conversations with distinguished persons under the Second Empire
CHATEAUBRIAND *Œuvres*
M HOVELL . The Chartist Movement
S AND B WEBB A History of Trade Unionism
MRS WEBSTER World Revolution The Plot against Civilisation
FOURIER (See works quoted above, p 119)
PROUDHON *Mémoire sur la propriété*
LAMARTINE *Histoire de la Révolution de* 1848
CABET *Voyage en Icarie*
JANET . *Saint-Simon et le Saint-Simonisme*
*SAINT SIMON . *Œuvres* (esp vols XX-XXII)
*LOUIS BLANC *L'organisation du travail*
Analyse de la doctrine de Babœuf, 1795

CHAPTER VII.

*DE TOCQUEVILLE *Op cit*
LAMARTINE . *Op cit.*
LOUIS BLANC . *Histoire de la Révolution*
P DE LA GORCE . *Histoire de la Révolution*
THOMAS *Histoire des Ateliers Nationaux.*
MRS WEBSTER . *Op cit*
HECKTHORN Secret Societies
BARROT . *Mémoires*
F A SIMPSON The Rise of Louis Napoleon
NAPOLEON III *Des idées Napoléoniennes*
P. GUEDALLA The Second Empire
*H A L FISHER *Op cit*

CHAPTER VIII

DE LA GORCE	*Histoire du seconde Empire.*
*H A L FISHER	*Op cit*
P GUEDALLA	*Op cit*
BERTRAND RUSSELL	Roads to Freedom
NASSAU SENIOR	*Op cit*
LANO .	*Cour de Napoleon III*
KARL MARX .	Communist Manifesto
KARL MARX . .	Capital
H J LASKI	Karl Marx
MRS N H WEBSTER	*Op cit*
*LOWES-DICKINSON	Revolution and reaction in modern France
SOREL .	*Reflexions sur la violence*
ERCKMANN-CHATRIAN	*Histoire d'un conscrit de* 1813
ROCHEFORT	*La Lanterne*
*LISSAGARAY	*Histoire de la Commune*
THIERS . .	*Notes et Souvenirs*
F A SIMPSON .	Louis Napoleon and the Recovery of France (1848-1856)

CHRONOLOGICAL TABLE

1751-1765 The Encyclopædia
1762. Rousseau's *Contrat Social*
1767. Mercier de la Riviere's *L'ordre naturel et essentiel des sociétés politiques*
1774. Accession of Louis XVI
Turgot *contrôleur général*
1776 Necker *contrôleur général*
1781 Necker dismissed
1787. First Meeting of the Notables
The struggle with the Parlements.
1788. Necker recalled States General summoned
Nov Second Meeting of Notables
1789 May 5 Meeting of the States General
June. The States General become the National Constituent Assembly
July 14 Taking of the Bastille
Aug 4 The Constituent Assembly begins to vote the destruction of Feudalism
Declaration of rights
Oct 5 March of the women to Versailles.
Nov 7 " *Motion Lanjuinais* "
1790. Feb The Constituent Assembly concludes its discussion of the new Constitution known as the Constitution of 1791
May Mirabeau's letters to the Court begin
May 22 " France renounces the idea of conquest."
July 12 The Constituent Assembly passes the " Civil Constitution of the Clergy "
1791 April 2 Death of Mirabeau
Sept 14 The Constitution of 1791 accepted by the King
Oct 1 Meeting of the Legislative Assembly
Nov 29 The Assembly " threatens in the jargon of pacifism "
1792 April 20 War declared on Austria
June 18 The Assembly abolishes the *droits casuels*
July 25 Brunswick's Manifesto
July 29 Prussia declares war
Aug. 9-10 Birth of the Revolutionary Commune.

1792 Aug 10. Invasion of the Tuileries
Suspension of the King
Aug 25 The Assembly abolishes all feudal dues whatever without indemnity, unless their original titles can be produced
Sept 2-6 September massacres.
Sept 20 Battle of Valmy
Sept 20 First meeting of the Convention.
Sept 21 Abolition of royalty
Nov 6 Battle of Jemmappes
1793 Jan 21 Execution of the King
Feb 1 France declares war on England
March 9 Decree authorising *représentants en mission*
March 10 Institution of the Revolutionary Tribunal
April 3 Treachery of Dumouriez
April 6 Election of the Committee of Public Safety
June 2 Proscription of the Girondins
July 17 Suppression of all remaining feudal dues
1794 March 29 Execution of Hébert
April 3 Execution of Danton
July 28 Execution of Robespierre
1795 Nov 3 Inauguration of the Directory
1796 Bonaparte in Italy
Arrest and execution of Babœuf
1799 Nov 10 Coup d'état of Brumaire Bonaparte first consul
1804 Dec 2 Coronation of Napoleon as Emperor
1814 April 11 First abdication of Napoleon
June The Bourbon charter
1815 March 13-June 22 The Hundred Days of Napoleon's return
April 22 The *acte additionel*
August Election of the *chambre introuvable*.
1816 Sept. The King dissolves the *chambre introuvable*.
Nov New chamber with majority for the revolutionary settlement
1817 Feb New electoral law
1818. Dec Resignation of Richelieu
1820 Saint-Simon's *L'Organisateur*
Feb 13 Murder of Duc de Berri
Richelieu in power again
April New electoral law
1821 Saint Simon's *Chatécisme industriel*
1822 March 18 Press law
Nov Chateaubriand at the Congress of Verona
1823 French Intervention in Spain in the interests of absolutism
1824 Saint-Simon's *Nouveau Christianisme*
1825 Compensation to the émigrés
Death of Saint-Simon

1826 Law of sacrilege
1827 Nov Feudalist party defeated at the elections
1828. Jan Ministry of Martignac
Buonarotti's *Histoire de la conspiration de Babœuf*
1829 April Dismissal of Martignac
Fourier's *Nouveau monde industriel*
1830. July 26 The Four Ordinances
July 27 Insurrection
Aug 7 Louis Philippe proclaimed King
1840 Proudhon's *Mémoire sur la Propriété*
Cabet's *Voyage en Icarie*
Leroux' *de l'Humanité*
Foundation of *L'Atelier*
Louis Blanc's *L'Organisation du travail* and *L'histoire de dix ans*
1848 Marx' *Communist Manifesto*
Feb 22, 23 Revolution first phase
Feb 24-26 Second phase
Feb 27-June 26 Third phase
May 4 Meeting of the Constituent Assembly
June 24-26 Street fighting
December. Louis Napoleon elected President
1851 Dec 2 Coup d'état
1852 Dec 10. The Second Empire
1856. Congress of Paris
1864 The International Association of Workers
1867 Maximilian shot End of the Mexican adventure
1868 Congress of the International at Brussels adopts State ownership of the means of production
Strike of Paris bronze workers
1869 The Liberal Empire
1870. April Plebiscite
July 14 France declares war on Prussia
Sept 2 Sedan
Sept 4 Proclamation of the Republic
1871. Jan 28 Capitulation of Paris
Feb 8 Election of National Assembly
Feb 17 Election of Thiers as dictator
March 10 Central Committee of National Guard refuses to surrender its cannon
March 18 Insurrection of the Commune
March 26 Election of the Conseil Général of the Commune
May 21-28 Street fighting
Suppression of the Commune.

INDEX